आत्म-दान

विजयकुमार पुजारी

१६५१
आत्माराम एण्ड संस
पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता
काश्मीरी गेट,
दिल्ली ६

प्रकाशक

रामलाल पुरी

आत्माराम एण्ड सन्स,

काश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य ३ रुपये

मुद्रक
यूनिवर्सिटी ट्यूटोरियल प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

लेखक की ओर से

'परदे के पीछे से' निकल कर मैं 'नैपाल के मोर्चे पर' चला गया। और वहाँ से 'आत्म-दान' की प्रेरणा लेकर लौटा। आत्म-दान मेरा तीसरा उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में लगभग अठारहवीं सदी के अन्त के समय की एक कल्पित कहानी है। उपन्यास जैसा भी है, पाठकों के हाथ में है और इस के गुण-दोष की आलोचना करने का काम उनका है, मेरा नहीं।

हिन्दी मेरी मातृ भाषा नहीं है, राष्ट्र-भाषा है। और राष्ट्र-भारती के निष्ठा-मंदिर में आत्म-दान का यह प्रेमोपहार मैं विनीत भाव से प्रस्तुत करता हूँ।

—विजयकुमार पुजारी

आत्म-दान

प्रथम परिच्छेद

कला-मन्दिर की चित्रशाला में महामहिम आचार्य महानन्द का शिष्य शीलभद्र चित्राधार के सन्मुख आसन पर बैठ कर एकाग्रचित्त से क्षुब्ध महासागर के वक्षस्थल पर संहारकारिणी लोल लहरों के ताण्डव नर्तन का भयोत्पादक दृश्य चित्रित कर रहा था। चित्र में महासागर की उच्छृङ्खल तथा उत्तुँग लहरें दो विशालकाय नौकाओं को अपने गर्वोन्नत सिर पर उठा कर, उन्हें उलट-पुलट कर अपार तथा अथाह सागर के अन्धकारमय अन्तस्तल में जल समाधि देने का उपक्रम करती हुई प्रलय नृत्य कर रही थीं। चित्र पूर्ण हो गया था। शीलभद्र उसमें सूक्ष्म दृष्टि से कलात्मक संशोधन कर रहा था।

उसी समय आचार्य महानन्द ने धीरे-धीरे स्थिर डग भरते हुए चित्रशाला में प्रवेश किया। लम्बा क़द, सुडौल शरीर, गौर वर्ण, काली-काली चमकीली बड़ी आँखें, नाभि तक पहुँची हुई क्षीर-सी शुभ्र दाढ़ी, सिर पर पीछे की ओर किये हुए श्वेत वर्ण लम्बे केश, उन्नत तथा देदीप्यमान ललाट, पीताम्बर पहने और रेशमी उत्तरीय ओढ़े हुए वृद्ध आचार्य के व्यक्तित्व में एक अनोखा आकर्षण था। वृद्धावस्था के कारण शरीर से दुर्बल परन्तु आत्म-बल से सम्पन्न आचार्य के मुख-मण्डल से संयमपूर्ण योग की आभा

फूटी पड़ती थी। उन्हें देखते ही लोगों में श्रद्धा-भाव जागृत होता था और लोग आदर से मस्तक नमा देते थे।

आचार्य, शीलभद्र के पीछे जाकर खड़े हो गये और स्थिर दृष्टि से चित्र का निरीक्षण करने लगे। थोड़े समय के पश्चात् वह शांत स्वर में बोले, "शीलभद्र !"

शीलभद्र चौंक उठा। वह चित्रशाला में आचार्य की उपस्थिति से अनभिज्ञ था। शीघ्रतापूर्वक आसन से उठ कर वह आचार्य के सन्मुख मस्तक नवा कर बोला, "गुरुदेव !"

शिष्य की बौद्धिक प्रगति के उद्देश्य से आचार्य ने प्रश्न किया, "तुम जानते हो कि तुमने क्या चित्रित किया है ?" यह कह कर आचार्य अपने उच्चासन पर विराजमान हुए।

शीलभद्र शांत, सुन्दर, प्रतिभाशाली, मननशील और तेजस्वी युवक कलाकार था। कुछ विचार कर वह नम्रतापूर्वक बोला, "प्रकृति की प्रलय लीला !"

आचार्य के मुख-मण्डल पर मन्द मुस्कराहट दौड़ गई, "सीमित तथा सामान्य विनाश के भयोत्पादक दृश्य को मानव प्रकृति की प्रलय लीला कहता है, परन्तु वास्तव में प्रकृति की प्रलय लीला असीमित तथा असामान्य एक बहुत बड़ी घटना होती है और उसका सम्बन्ध अखिल ब्रह्माण्ड से होता है। उस दृष्टि से तुम्हारा यह चित्रित दृश्य अखिल ब्रह्माण्ड के एक कोने में—उपमा के तौर पर अपार तथा अथाह महासागर की जल-राशि की एक बूँद में अथवा अमर्यादित रेगिस्तान के रेत के एक कण में प्रकृति की नगण्य-सी साधारण हल-चल मात्र है, एक अति सामान्य दुर्घटना है। प्रकृति की प्रलयावस्था को दुर्घटना नहीं कहा जा सकता। वह तो दिन के पश्चात् रात्रि की तरह सृष्टि चक्र का एक नियम मात्र है। प्रकृति के प्रलय की प्रारम्भावस्था अथवा पूर्णावस्था

का चित्रांकन कोई भी मानव चित्रकार नहीं कर सकता। जानते हो, प्रलय किसे कहते हैं ?"

"सृष्टि का अंत।"

"अर्थात् ?"

"नाम-रूपात्मक सृष्टि का अभाव—सृष्टि का शून्य में लय !"

"और शून्य का क्या अर्थ है ?"

"कुछ भी नहीं।"

आचार्य मुस्करा कर बोले, "एक अर्थ से तुम्हारा यह कथन ठीक है, परन्तु तुम मान चुके हो कि नाम-रूपात्मक सृष्टि अर्थात् 'सब कुछ' शून्य में अर्थात् 'कुछ भी नहीं' में लय हो जाता है, तो तुम्हें यह भी मानना पड़ेगा कि शून्य से अर्थात् 'कुछ भी नहीं' से ही 'सब कुछ' उत्पन्न होता है। क्या तुम मेरी बात को समझ रहे हो ?"

"हाँ, गुरुदेव !"

आचार्य की वाग्धारा बह चली, 'सब कुछ' "कुछ भी नहीं' में लय हो जाता है। और 'कुछ भी नहीं' से 'सब कुछ' उत्पन्न होता है। अब यह समझो कि जिससे 'सब कुछ' होता है, उसको 'कुछ भी नहीं' नहीं कहा जा सकता। तुम्हारे शब्दों में जो 'कुछ भी नहीं' है, वही 'सब कुछ' है। वही अनिर्वचनीय परम तत्त्व है। वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती। उस परमतत्त्व के स्पंदन का प्रसरण सृष्टि है और उसका संकोच प्रलय है। जिस प्रकार सृष्टि स्रष्टा को छिपाये है, स्रष्टा दृष्टि-गोचर नहीं होता, उसी प्रकार स्रष्टा सृष्टि को अपने में समेट लेता है, छिपा लेता है। स्रष्टा और सृष्टि की यह आँख मिचौनी मानवी बुद्धि के लिये अचिन्तनीय समस्या रही है और रहेगी। विभिन्न दर्शन-शास्त्र मानव मस्तिष्क की कल्पना मात्र हैं। उन कल्पनाओं के कोलाहल

में कौन सी कल्पना अथवा किसकी कल्पना ठीक है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। क्या तुम समझ रहे हो ?"

"हाँ, गुरुदेव, परन्तु दार्शनिक कल्पनाओं में इतना अधिक मतभेद क्यों ?"

"मतभेद स्वाभाविक है। दार्शनिक अपने जीवन विषयक अनुभव के आधार पर कल्पना करता है। अनुभव संस्काराधीन होता है और प्रत्येक के संस्कार दूसरे से भिन्न होते हैं। मनुष्य का तर्क उसके संस्कार का अनुगामी होता है। इसी कारण से दार्शनिक कल्पनाओं में मतभेद पाया जाता है। क्या तुम समझ गये ?"

"हाँ, गुरुदेव !"

"हम कलाकारों के लिये स्रष्टा एक महान् कलाकार है और सृष्टि उसकी महान् कला का महान् प्रदर्शन है। तुम कलाकार हो और तुम्हें उस महान् कलाकार की कला का सूक्ष्मातिसूक्ष्म यथावत् अध्ययन करना चाहिये। मैं प्रसन्न हूँ कि प्राकृतिक दृश्य चित्रित करने में तुम्हें प्रशंसनीय सफलता प्राप्त हुई है। मानव की विभिन्न आन्तरिक सूक्ष्म भावनाओं के प्रकटीकरण में भी तुम सिद्धहस्त हो चुके हो। कला के विकास का कोई अन्त नहीं है। कला अनन्त है और मानव सान्त है। इसलिये कोई भी कलाकार पूर्ण नहीं हो सकता। कला-विकास का अवकाश बना ही रहता है। तुम्हें भी संतोष की साँस नहीं लेनी चाहिये और दृष्टि सदा आगे की ओर रखनी चाहिये। संयम पूर्ण साधना से कला का विकास होता रहता है।" इतना कह कर आचार्य आसन से उठ खड़े हुए और शीलभद्र के हाथ से तूलिका लेकर चित्र में सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलात्मक संशोधन करने लगे।

शीलभद्र आचार्य के संशोधन की ओर ध्यान पूर्वक देखने लगा।

आचार्य महानंद एक उच्च कोटि के मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, कलाकार और ईश्वरानुरागी योगी पुरुष थे। काव्य, संगीत, नृत्य, चित्र और मूर्तिकला—इन ललित कलाओं के वह रहस्य-भेदी ज्ञाता थे। वह असाधारण रूप से प्रतिभाशाली थे। कलाओं की साधना उनके लिये केवल मनोरंजन का साधन नहीं थी, प्रत्युत जीवन में छन्दोमय चेतना की उपलब्धि कर रसरूप परब्रह्म से एकरस होने की उपासना थी। 'रसो वै सः'—ब्रह्म रसरूप है, इस वैदिक उक्ति पर उनका स्वाभाविक विश्वास था। वह ईश्वर को, जैसा कि धर्म-ग्रंथों में कहा गया है, कलाकार और कवि के रूप में मानते थे। सृष्टि उस कलाकार की कला और उस कवि का काव्य है, यह उनकी धारणा थी। वह अपनी लौकिक कलाओं से उस अलौकिक कलाकार की अभ्यर्थना करते थे। उनकी कला साधना पर आध्यात्मिकता की गहरी छाप थी।

आचार्य महानन्द राजनगर राज्य के प्रमुख आचार्य थे और राज्य में सर्वत्र उनको आदर पूर्वक गुरुदेव कहा जाता था। उनकी आयु लगभग सतहत्तर वर्ष की हो गई थी। चालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने राजनगर के बाहर सरसा सरिता के तट पर एकान्त रमणीय स्थान में एक विशाल तथा कलापूर्ण भवन में कला-मन्दिर की स्थापना की थी। आचार्य का कला-मन्दिर यथा नाम तथा गुण था। राज्य के विभिन्न भागों से कला-प्रेमी आकर वहाँ ललित कलाओं की साधना करते थे। उनके शिष्य-शिष्याओं की संख्या सौ को लांघ चुकी थी। परन्तु एक अप्रत्याशित घटना से कला-मन्दिर का कला-कर्म-कोलाहल एकदम शांत हो गया। कला-मन्दिर की स्थापना के लगभग दस वर्ष पश्चात् आचार्य की प्राण-प्रिया अर्द्धाङ्गिनी देवी महानन्दा का देहान्त हुआ। इससे आचार्य के भावुक हृदय पर वज्रपात सा हुआ।

उन्हें लगा कि उनकी जीवन-शक्ति जाती रही। महानन्दा की अर्थी के साथ आचार्य के शिष्य तथा शिष्याएं और नगर के गण्य-मान्य व्यक्ति श्मशान गये थे। जब चिता की प्रज्वलित लाल-लाल लपटों ने महानन्दा के कुसुम सदृश कोमल भौतिक शरीर को राख का ढेर बना दिया, तब अपने शोकावेग को दबा कर अत्यधिक गंभीर बने हुए आचार्य अपनी भर्राई हुई आवाज में बोले, "कला-प्रेमी भाइयो और देवियो, जीवन एक चिरंतन वियोग की क्रीड़ा है। यहाँ साथी छोड़ कर चला जाता है अथवा साथी को छोड़ कर चले जाना पड़ता है। मृत्यु जीवन का अंत नहीं है, केवल अनिवार्य परिवर्तन है, यह जानते हुए भी प्रेमी के वियोग से मानव-हृदय रो पड़ता है। यदि मानव में प्रेम की पीड़ा न होती, तो न तो किसी की मृत्यु का किसी को दुःख होता और साथ ही जीवन में किसी तरह का आनन्द भी न होता। दार्शनिक मानव ने मृत्यु में अमृत का अनुसन्धान किया है। यद्यपि मैं एक दार्शनिक कलाकार हूँ, और जीवन तथा मृत्यु में मेरे लिये कोई विरोधाभास नहीं है, तथापि मुझे यह स्वीकार करना चाहिये कि महानन्दा की मृत्यु मेरे जीवन में एक महान् दुर्घटना है। वह मेरे जीवन की पवित्र समृद्धि तथा प्रेरणा थी। कला-मन्दिर के निर्माण में महानंदा का उत्साह तथा उल्लास सहायक हुआ था। मैं तो स्वभाव से ही एकान्त प्रिय हूँ और इसी लिये एकाग्रचित्त से, तन्मय भाव से कलाओं की साधना करता रहा हूँ। अब मैं फिर एकान्त में ही जीवन बिताना चाहता हूँ। संस्था के रूप में कला-मंदिर आज से बंद हो गया—सदा के लिये। अब कोई भी कला-रसिक कला-मन्दिर में कला का अभ्यास करने के लिये न आये। मेरे इस निश्चय से आपको दुःख होगा, यह मैं जानता हूँ, परन्तु मैं विवश हूँ। इस निश्चय पर कोई मुझ से तर्क-वितर्क न करे।

यह तुम्हारे आचार्य की इच्छा है। आचार्य की इच्छा का अनादर न करो।" यह घोषणा करते हुए आचार्य का हृदय भर आया था, आँखें भी भर आई थीं। उपस्थित सभी व्यक्तियों की आँखों से आंसू बह रहे थे।

कला-मन्दिर को एक संस्था के रूप में बंद कर दिये जाने के पश्चात् लगभग दस वर्ष तक आचार्य एकान्त में ध्यान और उपासना में लगे रहे। आध्यात्मिक दृष्टि से कला-साधना भी होती रही। एक दिन प्रातःकालीन वायुसेवन के लिये आचार्य नदी के किनारे घूमने जा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक दस वर्षीय बालक नदी के किनारे रेत को समतल बना कर उस पर मनोयोग पूर्वक कुछ टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींच रहा है। आचार्य बालक के समीप चले गये। बालक घोड़े की आकृति बना रहा था। आचार्य ने बालक में चित्रकारी की प्राकृतिक प्रतिभा देखी। वह बोले, "वत्स, तुम कौन हो ?"

बालक चौंक कर खड़ा हो गया और आचार्य को प्रणाम कर बोला, "मेरा नाम शीलभद्र है।"

"पिता का नाम ?"

"पिता का नाम सामन्त चन्द्रसेन था। गत वर्ष उनका देहान्त हो गया।"

"तो तुम सामन्त चन्द्रसेन के पुत्र हो ?"

"हाँ !"

"तुम्हें चित्रकारी से प्रेम कैसे हो गया ?"

"पिताजी के अध्ययन-कक्ष में बड़े-बड़े चित्र टंगे हुए हैं। उनको देख कर वैसे ही चित्र बनाने को जी चाहता है।"

"क्या तुम चित्रकार बनना चाहते हो ?"

"बनना तो चाहता हूँ, परन्तु गुरु के बिना कैसे बन सकता हूँ ?"

"गुरु तुम्हारे सामने उपस्थित है। तुम मुझे जानते हो ?"

"महामहिम गुरुदेव को राजनगर में कौन नहीं जानता ? मैं तो प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल घोड़े पर सवार होकर इधर वायु सेवन के लिये आता हूँ। मैंने आपको कई बार देखा है। आपके कला-मंदिर को भी देखा है।" शीलभद्र ने प्रसन्न होकर कहा।

"तो तुम चित्रकला सीखने के लिये कला-मंदिर में आ जाया करो।"

शीलभद्र की प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं थी, "मैं तो आज ही माताजी से आज्ञा प्राप्त कर आपकी सेवा में पहुँच जाऊँगा।" यह कह कर शीलभद्र ने जोर से सीटी दी। उसका घोड़ा नदी के किनारे घास चर रहा था। घोड़े ने सिर उठा कर अपने स्वामी की ओर देखा, फिर जोर से हिनहिनाया और तेजी से अपने स्वामी के पास आ गया।

आचार्य के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा, "तो क्या तुम इसी घोड़े का चित्र बना रहे थे ?"

शीलभद्र विनय पूर्वक हंस पड़ा।

आचार्य बोले, "अब तुम जा सकते हो। मुझे भी जाना है।"

शीलभद्र ने नत मस्तक होकर आचार्य को प्रणाम किया और घोड़े पर सवार होकर उसको नगर की ओर सरपट दौड़ाया।

यही शीलभद्र प्रायः सत्रह वर्ष की सतत् साधना के पश्चात् महान् चित्रकार हो गया। आज उसकी आयु लगभग सत्ताईस वर्ष की हो चुकी थी। उसने आचार्य से चित्रकला के साथ ही साथ संगीत-कला और मूर्ति-कला की भी शिक्षा प्राप्त की थी

और वह उच्चकोटि का संगीतज्ञ तथा मूर्त्तिकार भी था, परन्तु चित्रकला में विशेष आसक्ति होने के कारण वह अपना अधिक समय चित्रकला का विकास करने में ही व्यतीत करता था।

चित्र में साधारण परन्तु आवश्यक संशोधन करने के पश्चात् आचार्य ने शीलभद्र की ओर बड़े ध्यान से देखा और उसको तूलिका देते हुए गंभीर स्वर में कहा, "चित्रकला प्रकृति का केवल अनुकरण मात्र करना नहीं है। सजीवता कला की विशेषता है, परन्तु केवल अनुकरण में सजीवता नहीं होती। नकल निर्जीव होती है। चित्रकार के अन्तर की कल्पनामयी अभिव्यक्ति ही प्रकृति की प्रतिकृति को अधिक आकर्षक बनाती है। क्या तुम मेरे साधारण संशोधन की महत्ता को समझ गये?"

"हाँ, गुरुदेव!"

"कोई शंका तो नहीं है?"

"नहीं, गुरुदेव!"

"अच्छा, मैं शीघ्र ही तुम्हारी चित्रकला की परीक्षा लूंगा।" इतना कह कर आचार्य धीरे-धीरे चित्रशाला से चले गये।

शीलभद्र फिर चित्र पर दृष्टि गड़ा कर आचार्य के संशोधन को हृदयंगम करने लगा। थोड़े समय के पश्चात् कला-मंदिर की संगीत शाला से संगीत की मधुर ध्वनि उसके कानों में आ पहुंची। उसे वह संगीत बहुत ही प्रिय लगा। उसे लगा कि संगीत में उसका ही आवाहन किया जा रहा है। वह कुछ देर तक निश्चल खड़ा होकर ध्यान से सुनता रहा और फिर हाथ में तूलिका लिये ही वह संगीत शाला की ओर चला गया।

द्वितीय परिच्छेद

प्रफुल्ल यौवना सुनंदा संगीत-शाला में एक हाथ से एकतारा और दूसरे हाथ से करताल बजा कर खुले मन और स्वर से तल्लीन होकर मीरा का भजन गा रही थी—

"म्हारे घर आओ प्रीतम प्यारा ॥
तन मन धन सब भेंट धरूँगी,
भजन करूँगी तुम्हारा ॥"

इसी समय शीलभद्र संगीतशाला के द्वार पर आ पहुँचा और मंत्र-मुग्ध सा भजन सुनने लगा! सुनंदा का ध्यान द्वार की ओर नहीं था। वह गा रही थी—

"तुम गुनवंत सुसाहिब कहिये,
मो में औगुन सारा ॥"

इतना गाकर सुनंदा ने सहज भाव से द्वार की ओर देखा, तो शीलभद्र को वहाँ खड़े पाया। संकोच के कारण वह कुछ सकपका सी गई, परंतु शीघ्र ही प्रकृतिस्थ होकर उसने स्नेह-स्निग्ध स्वर में कहा, "आप वहाँ क्यों खड़े हैं? भीतर आइये।"

सुनंदा शीलभद्र को आदर की दृष्टि से देखती थी और उस दृष्टि में प्रेम पूर्ण आत्मीयता का भाव भी था।

शीलभद्र भीतर जाकर एक ओर बैठ गया। सुनंदा गाने लगी—

"मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे,
तुम बिन नैणा दुखारा ॥
म्हारे घर आओ प्रीतम प्यारा ॥"

भजन समाप्त कर एकतारा और करताल एक ओर रखते हुए सुनंदा ने शीलभद्र की ओर प्रेमादर की दृष्टि से देखा, "मुझे आपकी चित्रकला बहुत ही प्रिय है। हो सके, तो आप मेरा एक चित्र बना दीजिये। क्या इसके लिये मुझे आपके सामने बैठना पड़ेगा ?"

"मेरे सामने बैठने की कोई आवश्यकता नहीं है।" शीलभद्र मुस्करा कर बोला, "आपके शरीर का एक-एक अवयव मेरे हृदयपट पर अंकित है। मैं आपका चित्र प्रसन्नता पूर्वक बना दूंगा।"

सुनंदा हंसकर बोली, "आपके उदार हृदय में मुझे स्थान मिला है, यह मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ। चित्रकार के हृदय में न जाने कितनों को ही स्थान मिला करता है। यह उसका काम जो ठहरा।"

"आप ऐसा कह सकती हैं। मैं इसका प्रतिवाद नहीं करता।" कुछ रुक कर शीलभद्र ने सुनंदा की ओर एकटक देखते हुए कहा, "आपके स्वर में आकर्षक माधुर्य है। आपका संगीत मुझे बहुत ही प्रिय है!"

मंद मुस्कराहट के साथ वक्र दृष्टि से सुनंदा ने शीलभद्र की ओर देखा, "और ?"

"और क्या ?"

"कुछ नहीं।" सुनंदा ने आँखें नीची कर लीं। कुछ देर तक दोनों चुप हो रहे। कोई कुछ बोला नहीं।

"क्या आपको मीरा के भजनों से विशेष प्रेम है ? आप प्रायः मीरा के ही भजन गाती हैं।" शीलभद्र ने सुनंदा की ओर स्थिर दृष्टि से देख कर प्रश्न किया।

सुनंदा शाँत स्वर में बोली, "गुरुदेव को मीरा के भजनों से विशेष प्रेम है। वह सब राग-रागिनियाँ मुझे मीरा के भजनों में ही सिखाते हैं। मैं मीरा का भजन गाती हूँ, तो वह सुनने में तल्लीन हो जाते हैं और उनकी आँखों से प्रायः अश्रुधारा बहने लगती है। उनका हृदय बड़ा ही कोमल है।"

"परंतु उनकी साधना कितनी कठोर है। महान् पुरुषों का हृदय वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल होता है।"

"अब तो मुझे भी मीरा के भजनों से प्रेम हो गया है। एकान्त में प्रायः मैं मीरा के भजन गाती हूँ या गुनगुनाती हूँ। विरह की व्यथा और मिलन का आनन्द दोनों में मीरा की वाणी अनुपम है।

"आपके भजन सुनकर मुझे ऐसा भान होता है कि मीरा ही गा रही है।"

सुनंदा मुस्कराई, "यह आपकी कृपा है।"

"आपको आपका चित्र कब तक चाहिये ?" इतना कह कर शीलभद्र उठ खड़ा हुआ।

"मुझे कोई शीघ्रता तो नहीं है। आवश्यकता से जब कभी अवकाश मिले, बनाइये। आवश्यकता हो तो मैं आपके सामने बैठ सकती हूँ।"

शीलभद्र मुस्कराया, "मेरे सामने बैठने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप मेरे हृदय में विराजमान हैं।" यह कह कर वह चला गया।

सुनंदा के शरीर में एक मधुर कंपन दौड़ गया। वह कुछ देर

तक यूं ही बैठी रही। फिर वह वीणा-वादन का अभ्यास करने लगी। वह एक कुशल वीणा-वादिनी थी।

लगभग आठ वर्ष पूर्व की बात है। राजनगर राज्य के प्रधान सेनापति इन्द्रसेन के भवन पर जन्माष्टमी का उत्सव समारोह पूर्वक मनाया जा रहा था। उसमें आचार्य महानंद भी सम्मिलित हुए थे। आचार्य के प्रवचन के पश्चात् सेनापति की एकादश वर्षीया बालिका ने कोमल तथा मधुर स्वरावलि से मीरा का एक भजन गाकर सुनाया। बालिका के संगीत से आचार्य प्रभावान्वित हो गये। बालिका को निकट बुला कर आचार्य ने पूछा, "तुम्हारा नाम ?"

बालिका विनय पूर्वक आचार्य को प्रणाम कर बोली, "सुनंदा।"

"तुमको यह भजन किस ने सिखाया ?"

"हमारे यहाँ एक तपस्विनी आई थी। वह गाया करती थी! उसने मुझे भी सिखा दिया।"

"क्या तुम संगीत सीखना चाहती हो ?"

"हाँ, परन्तु पिता जी कहते थे कि आप किसी को कुछ सिखाते नहीं हैं।"

आचार्य हँस पड़े, "मैं तुम्हें संगीत कला की शिक्षा दूँगा। मीरा के भजन और मीरा का नृत्य भी सिखाऊँगा।" फिर वह सेनापति इन्द्रसेन से बोले, "कल से सुनंदा को कला-मंदिर में भेज दिया करें।"

सेनापति ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए मस्तक नवा कर कहा, "गुरुदेव, यह आपका मुझ पर अनुग्रह है। सुनंदा का संगीत की ओर बहुत झुकाव है। आपके एकांतवास के निश्चय से मैं आप से सुनंदा को संगीत-शिक्षा देने की प्रार्थना करने का साहस न

कर सका। आज आपने मेरी हार्दिक इच्छा पूर्ण कर मुझे अनुगृहीत किया है। कल से सुनंदा को कला-मन्दिर में नियम पूर्वक भेज दिया करूँगा।"

तब से सुनंदा आचार्य से नियम पूर्वक संगीत-नृत्य कला की शिक्षा पा रही थी। आज सुनंदा प्रायः उन्नीस वर्ष की हो चुकी थी। कला-मन्दिर को संस्था के रूप में बंद कर दिये जाने के पश्चात् केवल शीलभद्र और सुनंदा को ही आचार्य के पथ-प्रदर्शन में कला-साधना करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। शीलभद्र और सुनंदा दोनों सुन्दर थे, परिस्थिति से सम्पन्न थे, कलाविद् थे और एक दूसरे की कला पर मुग्ध थे। ऐसी अवस्था में उनका एक दूसरे की ओर प्रेमाकर्षण से आकर्षित होना स्वाभाविक था, परन्तु उनके प्रेम में अनियंत्रित यौवन की उच्छृङ्खलता नहीं थी, साधना-जनित संयम था।

सुनंदा बहुत ही सोच-विचार के पश्चात् शीलभद्र की ओर आकर्षित हुई थी। उसने जब मादक यौवन की प्रथम मधुर अंगड़ाई ली, तो उस के सामने राजनगर के महाराजा योगेन्द्रसिंह का एकमात्र पुत्र युवराज राजेन्द्रसिंह था, शीलभद्र नहीं। युवराज राजेन्द्रसिंह एक सुन्दर नवयुवक था और उसके सौन्दर्य में एक विशेष प्रकार का आकर्षण था। पुष्ट तथा सुडौल शरीर, सुन्दर वर्ण, यौवन की आभा से आरक्त तथा प्रसन्न मुखमण्डल, काली चंचल आँखें, प्रशस्त ललाट, चौड़ा वक्षस्थल और आकर्षक बोल-चाल—इस प्रकार युवराज का सौन्दर्य दूसरों को चौंकाने वाला और उनकी आँखों को अपनी ओर बलात् आकर्षित करने वाला था। परन्तु उसके सुन्दर शरीर में चंचल विलासी रक्त प्रवाहित हो रहा था। वह विलासी था, उद्दण्ड था, मद्यप था। वह भ्रमरवृत्ति का रसिक था और मधु-

लोभ से सुन्दर पुष्पों पर मुग्ध होकर मंडराना उसका स्वभाव था।

सुनंदा ने युवराज के मादक सौन्दर्य में जीवन का सुख-स्वप्न देखा था, और उसको मन ही मन चाहा था। वह उसकी भ्रमर-वृत्ति तथा अन्य दुर्गणों से परिचित नहीं थी। सुनंदा का परिवार राज-परिवार से सम्बन्धित था। वह प्रायः राज-प्रासाद में आती-जाती और उसकी युवराज से भेंट-मुलाकात होती रहती। सम्पर्क तथा सौन्दर्य के कारण वह युवराज की ओर खिंच गई। एक दिन युवराज ने राज-भवन में सुनंदा से कहा था, "सुनंदा, तुम सुन्दर हो, अति सुन्दर हो।"

सुनंदा ने उस समय एक अपूर्व अननुभूत आनन्द का अनुभव किया। उसके हृदय में मधुर कंपन हुआ। उसने लज्जावनत होकर कहा, "मैं भी आपको ऐसा कह सकती हूं!"

अनुकूलता से युवराज उत्साहित हुआ, "सुनंदा, यौवन का आकर्षण कितना प्रबल होता है, परन्तु कितना मधुर! यौवन क्या है? एक अतृप्त प्यास है। यह वह प्यास है, जो पीने से बढ़ती ही है, तृप्त नहीं होती। तुम रसरूप हो और मैं रस का प्यासा हूँ। तुम सुन्दर हो और मैं सौन्दर्य का पुजारी हूँ।"

सुनंदा हँस पड़ी, "तो क्या मुझे किसी मंदिर में बिठा कर आप मेरी पूजा करेंगे?"

"पाषाण-मन्दिर में नहीं, मन-मन्दिर में बिठा कर तुम्हारी पूजा करूँगा।"

"आप तो कवि बनते जा रहे हैं?"

युवराज ने सुनंदा को मुग्ध दृष्टि से देखा, "युवक मनचाही युवती के निकट कवि बन कर ही जाता है। वह अपने हृदय का समस्त प्रेम-रस अपनी वाणी में उंडेलता है। इससे उसके वाक्य रसयुक्त हो जाते हैं। वाक्यं रसात्मकं काव्यम्-रसयुक्त वाक्य

को ही काव्य कहते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रेमिका के निकट कवि होता है।"

"और ऐसा कवि पागल भी होता है।" सुनंदा मुस्कराई।

"उसका पागल बनना स्वाभाविक है। वासना से यौवन उन्मत्त हो उठता है। उन्माद यौवन की शक्ति है। उन्माद को ही पागलपन कहते हैं। जिस यौवन में उन्माद नहीं, पागलपन नहीं, उसको मैं यौवन नहीं मानता। उन्माद रहित यौवन को मैं बुढ़ापा समझता हूँ।"

सुनंदा ने गंभीर होकर कहा, "परन्तु वह उन्माद नैतिक नियमों से नियमित होना चाहिए। अन्यथा वह उन्माद पशुता में परिवर्तित हो जाता है।"

युवराज उन्मत्त होकर बोला, "यौवन के उन्माद के निकट नैतिक नियमों का कोई मूल्य नहीं है। विवशता न हो, तो वह खुलकर खेल खेलना चाहता है।"

सुनंदा कुछ त्रस्त स्वर में बोली, "अच्छा अब मेरा कला-मन्दिर जाने का समय हो गया है।" इतना कह कर वह जाने लगी।

"सुनंदा!" युवराज ने आत्मीयता पूर्ण स्वर में कहा, "मैं तुम्हें चाहता हूँ।"

"वह मुझे मालूम है।" सुनंदा कुछ रोष से बोली।

"फिर ?"

"फिर क्या ?"

"मैं तुमसे विवाह की स्वीकृति चाहता हूँ।"

"अभी मैं विवाह करना नहीं चाहती, इसलिये विवाह के सम्बन्ध में मैं आपसे कुछ भी बोलना नहीं चाहती।" इतना कहकर वह वहाँ से हट गई।

इस घटना के पश्चात् सुनंदा शीलभद्र की ओर आकर्षित हुई। कुछ दिनों उसके सामने बड़ा भारी प्रश्नार्थक चिन्ह था—"युवराज अथवा शीलभद्र ?" सुनंदा ने मन ही मन दोनों के सौन्दर्य और स्वभाव की तुलनात्मक आलोचना की और इस आलोचनात्मक तुलना में शीलभद्र ने युवराज को परास्त कर दिया। युवराज के मादक सौन्दर्य की अपेक्षा शीलभद्र का सात्विक सौन्दर्य सुनंदा को अधिक आकर्षक प्रतीत हुआ। युवराज की संयमहीन चंचलता की अपेक्षा शीलभद्र का संयमपूर्ण गांभीर्य उसे अच्छा लगा। वह स्वयं कलाकार थी, इसलिये कला-प्रतिभा-हीन युवराज की अपेक्षा कलाकार शीलभद्र उसे पसंद आया। एक बात और भी थी। महाराजा योगेन्द्रसिंह की दो रानियाँ थीं। वार्तालाप से सुनंदा को युवराज की विलासी वासनात्मक प्रवृत्ति का परिचय प्राप्त हुआ था। उसने सोचा कि रंगीन तबियत का युवराज दो चार विवाह कर बैठे, तो फिर रानी बन कर भी क्या सुख मिलेगा ? राजा का अंतःपुर उसे कारागार-सा प्रतीत हुआ।

एक दिन सुनंदा ने युवराज से स्पष्टतया कहा, "आप मुझसे बात करते समय शिष्टता का उल्लंघन न करें। मैं आपसे विवाह नहीं करना चाहती।" और इस प्रकार युवराज का ख्याल मन से निकाल कर सुनंदा शीलभद्र की ओर भावी जीवन-साथी की दृष्टि से देखने लगी।

संगीत-शाला में वीणा-वादन का अभ्यास समाप्त कर सुनंदा गाड़ी में बैठ कर घर की ओर रवाना हुई।

तृतीय परिच्छेद

एक सप्ताह के पश्चात् शीलभद्र ने सुनंदा का चित्र पूर्ण किया। वह अपने भवन के चित्र-गृह में चित्राधार के सम्मुख खड़ा होकर सुनंदा के चित्र को ध्यान पूर्वक देख रहा था। उसी समय शीलभद्र की बड़ी विधवा बहिन सुशीला ने आकर कहा, "भैया, सुनंदा देवी आ गई।"

शीलभद्र शीघ्रता पूर्वक बाहर आया। भवन के प्रांगण में सुनंदा गाड़ी से उतर रही थी। शीलभद्र ने उसका यथोचित स्वागत करते हुए कहा, "आपका अपने घर पर स्वागत करते हुए मुझे बहुत आनन्द हो रहा है।"

सुनंदा ने शीलभद्र, उसकी माता और बहिन सुशीला को मस्तक नवा कर प्रणाम किया।

सुशीला ने प्रसन्नता पूर्वक कहा, "भैया तो आपके संगीत, सौन्दर्य और स्वभाव की बहुत ही प्रशंसा करते हैं। आज आपको देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई।"

सुनंदा ने मुस्करा कर कहा, "आपके और माताजी के दर्शन कर मुझे भी प्रसन्नता हुई है। (शीलभद्र की ओर देखकर) आपने मेरा चित्र बनाया है। वही ले जाने के लिये आई हूँ।"

माता ने हँस कर कहा, "शीलभद्र तो आपका बहुत ही प्रशंसक बन गया है। बात-बात में आपकी बात करता है।"

सुनंदा शीलभद्र की ओर देख कर मुस्कराई, "यह आपकी कृपा है ?"

इसके बाद अतिथि गृह में सभी ने मिलकर अल्पाहार किया। सुशीला ने कहा, "भैया कहते थे कि आप मीराबाई के भजन बहुत अच्छा गाती हैं। आज पहली बार आप हमारे यहाँ आई हैं इसलिए मैं आपको कष्ट देना नहीं चाहती। परन्तु मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ और आशा भी करती हूँ कि आप फिर कभी सुविधानुसार आकर हमें भजन सुनायेंगी। माताजी की भी बहुत इच्छा है।"

सुनंदा ने कहा, "आपकी प्रार्थना मेरे लिये आज्ञा के समान है। मैं फिर कभी आपको अवश्य सुनाऊँगी।"

"धन्यवाद !" सुशीला ने कहा।

इसके पश्चात् शीलभद्र सुनंदा को अपने चित्र-गृह में ले गया। चित्राधार के सम्मुख खड़ा होकर शीलभद्र बोला, "यह आपका चित्र है। चित्र में कहाँ तक सफलता मिली है, यह कहने का अधिकार मुझे नहीं है।"

सुनंदा ने चित्र को प्रसन्नता पूर्वक बड़े ही ध्यान से देखा। उसको लगा कि वह अपने को जितना सुन्दर समझती है, वास्तव में उससे कहीं अधिक सुन्दर है। वह कृतज्ञता पूर्वक बोली, "वास्तव में आप महान् चित्रकार हैं।"

उसी आकार-प्रकार का दूसरा चित्र सुनंदा को देते हुए शीलभद्र ने कहा, "यह मेरी ओर से आपको भेंट है।"

वह चित्र शीलभद्र का अपना था।

सुनंदा ने शीलभद्र के चित्र को ललचाई आँखों से एकटक

देखा, "मैं आपका चित्र चाहती थी, परंतु आपसे मांगने में मुझे कुछ संकोच होता था। अँधा मांगता है एक आँख और परमात्मा देता है दो। दोनों चित्र एक दूसरे के अनुरूप हैं।"

शीलभद्र ने प्रसन्न स्वर में कहा, "तो क्या आपको यह युगल पसंद है?"

लज्जा की लाली से सुनंदा के अरुण कपोल और अधिक लाल हो उठे। वह नीचे की ओर देखती हुई कंपित स्वर में बोली, "यदि ऐसा हो सके, तो मैं अपना सौभाग्य समझूंगी।"

कुछ देर तक दोनों चुप रहे। काष्ठ-निर्मित आसन पर बैठकर शीलभद्र ने सुनंदा को दूसरे आसन पर बैठने का संकेत किया। वह बैठ गई। उसके मुख पर दृष्टि गड़ा कर शीलभद्र ने सस्मित पूछा, "सुनंदा, यदि मैं एक बड़ा कलाकार न होता और केवल परिस्थिति से सम्पन्न, प्रतिष्ठित तथा साधारण बुद्धिमान होता, तो क्या तुम मेरी ओर आकृष्ट होती?"

सुनंदा को शीलभद्र का 'तुम' का प्रयोग बड़ा अच्छा लगा। उसने नीचे की ओर देखते हुए कहा, "अवश्य आकृष्ट होती। मेरे लिये आपकी कला की अपेक्षा आपके सौन्दर्य में अधिक आकर्षण है। यदि आप सुन्दर न होते, तो केवल कला के कारण मैं आपसे प्रेम न कर सकती। मुझ में सौन्दर्य भावना प्रधान है। सौन्दर्य और कला तो सोने में सुगंध है।"

"मेरी बात तुम से उलटी है। यदि तुममें कला न होती, तो मैं तुम्हारी ओर शायद आकर्षित न होता। कला के कारण ही मेरे लिये तुम्हारा सौन्दर्य आकर्षक हो गया।"

सुनंदा मुस्कराई, "तो इस का अर्थ यह हुआ कि हम दोनों की मनोवृत्तियों में मौलिक अन्तर विद्यमान है।"

"हाँ," शीलभद्र के मुख पर मंद हास्य की लकीरें खिंच गईं,

"परन्तु वह अन्तर हमारे प्रेमाकर्षण में बाधक नहीं है। मानव की सौन्दर्य भावना सापेक्ष होती है, निरपेक्ष नहीं। मानव में रुचि-वैचित्र्य पाया जाता है और वह स्वाभाविक है। नेत्र से केवल देखा जाता है, परंतु व्यक्ति अथवा वस्तु के सौन्दर्य का परीक्षक मन होता है और मन संस्काराधीन होता है। संस्कारानुसार ही मन बाह्य रूप की कल्पना करता है, परीक्षा करता है। संस्कार मन की आखें हैं और संस्कार एक के दूसरे से भिन्न होते हैं। इसलिये एक ही वस्तु सबके लिये सुन्दर नहीं होती। कवियों ने नारी-सौंदर्य की प्रशंसा में आकाश-पाताल एक कर दिया, परन्तु हमारे कुछ विरक्त संतों ने नारी-सौन्दर्य की निन्दा की। विरक्त मन के लिये नारी सौन्दर्य हीन तथा अनाकर्षक होती है। रुचि-वैचित्र्य का कारण प्रत्येक के पृथक्-पृथक् संस्कार मात्र ही है। मेरी और तुम्हारी मनोवृत्ति में जो अन्तर है वह, स्वाभाविक है। इससे हमारे प्रेमाकर्षण में अन्तर नहीं हो सकता।" यह कह कर शीलभद्र ने अपना सौन्दर्य-व्याख्यान समाप्त किया।

सुनंदा पर शीलभद्र की प्रतिभा का प्रभाव पड़ा, "गुरुदेव के समान आप भी मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक बनते जा रहे हैं। मुझे भय है कि गुरुदेव के समान कहीं आप भी एकान्त प्रिय साधक न बन जायें।" यह कह कर वह मुस्काराई, "तो आप मेरी कला के कारण मुझ से प्रेम करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आप मेरी कला से प्रेम करते है, मुझसे नहीं।"

शीलभद्र हँस पड़ा, "तुम और तुम्हारी कला, दो भिन्न नहीं हो, एक ही हो। श्रीकृष्ण और उनकी सोलह कलाएँ दोनों एक हैं, भिन्न नहीं। सोलह कला-सम्पूर्ण कृष्ण भगवान बन कर पूजा जाता है। सोलह कलाओं से हीन कृष्ण भगवान नहीं रह जाता। परंतु कला में कृष्ण नहीं है, प्रत्युत कृष्ण में कला है। कला एक गुण

है, शक्ति है और वह निराधार रह नहीं सकती। कला को आधार की अनिवार्य आवश्यकता होती है और उसमें वह एक रूप होकर रहती है। आधार से पृथक् कला का अस्तित्व हो नहीं सकता। अग्नि और उसकी दाहक शक्ति दोनों एक हैं। कलाकार और उसकी कला दोनों एक हैं। तुम और तुम्हारी कला दोनों एक हो और उस एक से मैं प्रेम करता हूँ।"

सुनंदा शीलभद्र की बातें मन्त्र-मुग्ध सी सुन रही थी। वह बोली, "ऐसा लगता है कि आप बातें किये जायें और मैं सुनती रहूँ। आपकी बातों का कभी अन्त ही न होने पाये, परन्तु जाने का समय हो गया है।" इतना कह कर वह उठ खड़ी हुई।

"सुनंदा, यहाँ सभी बातों का अन्त है। जिसका आदि है, उसका अन्त भी है। एक दिन जीवन-नाटक का अन्त होता है और जीवन की सभी बातें मृत्यु के अज्ञात अन्धकार में विलीन हो जाती हैं। सभी बातें न होने के लिये ही होती हैं। संयोग वियोग के लिये होता है। हमारे सामने संयोग का वर्तमान है और वह हमारे लिये आनन्द दायक है।" इतना कह कर शीलभद्र ने सुनंदा की आँखों में आँखें डाल कर देखा। सुनंदा ने नारी-सुलभ लज्जा से आँखें नीची कर लीं। उसके शरीर ने मधुर कंपन का अनुभव किया।

शीलभद्र ने उठ कर सुनंदा को दोनों चित्र देते हुए कहा, "यह तुम्हारी सेवा में अर्पण करता हूँ।"

सुनंदा ने हँस कर कहा, "आपके चित्रों का मूल्य चुकाने में मुझे आत्म-दान करना पड़ा। बड़े मंहगे हैं आपके चित्र!"

शीलभद्र हँस पड़ा। फिर दोनों चित्रगृह से बाहर आये।

सुशीला ने सुनंदा से कहा, "आप कला-मन्दिर में कब तक संगीत-शिक्षा पाती रहेंगी?"

"जब तक गुरुदेव जीवित हैं, मैं कला-मंदिर नहीं छोड़ूँगी। वह वृद्ध हैं। शिष्या होने के नाते उनकी सेवा का ध्यान रखना मेरा कर्त्तव्य है। मैं प्रातःकाल और सायंकाल दिन में दो बार कला-मंदिर जाती हूँ। उनके फलाहारादि की सर्व व्यवस्था मुझे करनी पड़ती है। एक दिन पिताजी ने कहा कि तुम मेरी पुत्री नहीं हो, गुरुदेव की पुत्री हो।" सुनंदा मुस्कराई, "अच्छा, अब आज्ञा चाहती हूँ।"

सुशीला ने कहा, "भजन सुनाने का आश्वासन याद है न ?"

"याद है। अवश्य सुनाऊँगी।"

उसी समय शीलभद्र का छोटा भाई घोड़े पर सवार हुआ बाहर से भवन के प्रांगण में आ पहुँचा। सुनंदा को देखकर उसने उसको घोड़े पर से ही आदर पूर्वक अभिवादन किया और फिर घोड़े से उतरा। सेवक ने घोड़े को थाम लिया।

चन्द्रकान्त सुन्दर और तेजस्वी था। उसकी आयु लगभग अठारह वर्ष की थी।

सुनंदा ने मुस्करा कर चन्द्रकान्त को अभिवादन किया और फिर शीलभद्र से कहा, "यह कभी कला-मंदिर में नहीं आते ?"

"वह व्यर्थ ही कहीं आना जाना पसंद नहीं करता। उसका झुकाव सैनिक शिक्षा की ओर अधिक है। कलाकार बनने की अपेक्षा वह तलवार चलाना अधिक पसंद करता है। कवि की वाणी, गायक का स्वर, चित्रकार की तूलिका, और भास्कर की छैनी इनसे सैनिक की तलवार का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है। सेनापति की कन्या को तलवार की महत्ता बताना मेरी अनधिकार चेष्टा मात्र है।" इतना कह कर शीलभद्र हँस पड़ा। सुनंदा भी हँस पड़ी। यथोचित अभिवादन के आदान-प्रदान के पश्चात् सुनंदा गाड़ी में बैठ कर बिदा हो गई।

चतुर्थ परिच्छेद

"शीलभद्र !"

"गुरुदेव !"

"मैं तुम्हारी चित्रकला की परीक्षा लेना चाहता हूँ।"

"मैं प्रस्तुत हूँ, गुरुदेव !" शीलभद्र ने सविनय कहा।

"मैं प्रसन्न हूँ कि तुम प्रस्तुत हो।" इतना कह कर आचार्य चित्रशाला में अपने उच्चासन पर विराजमान हुए। उन्होंने शीलभद्र को बड़े गौर से देखा, "तुम गिरिधर-गोपाल के अलौकिक प्रेमोन्माद में नृत्य करती हुई देवी मीराबाई का चित्र बनाओ। मीराबाई के नृत्य में तल्लीनता हो, भाव-भंगिमा में पवित्रता हो, विरह वेदना की व्याकुलता हो और साथ ही हो मधुर मिलन के आन्तरिक अनुभव की प्रसन्नता !"

"एक शंका है, गुरुदेव !"

"पूछो।"

"विरह वेदना की व्याकुलता और मिलन के आन्तरिक अनुभव की प्रसन्नता—ये दो परस्पर विरोधी भाव हैं। परस्पर विरोधी भावों को एक साथ दिखलाना अस्वाभाविक होगा। वेदना-मिश्रित प्रसन्नता के भाव को चित्रित करना कलाकार के

लिये कठिन कार्य तो है ही, परन्तु ऐसा करने से कला के विनाश हो जाने की भी संभावना है, गुरुदेव !"

मुस्करा कर लम्बी श्वेत दाढ़ी को दाहिने हाथ से सहलाते हुए आचार्य ने कहा, "शीलभद्र, प्रकृति के रूप को और मानव के अन्तस्तल की गहरी अनुभूतियों को यथावत् परन्तु आकर्षक ढंग से चित्रित करना ही चित्रकला का उद्देश्य है। मानवीय अन्त वृत्तियों को चरम सीमा तक पहुंचना ही श्रेष्ठ कला है। कलाकार को किसी निश्चित् धारणा की संकुचित सीमा में सीमित नहीं होना चाहिये, और भावों को स्वाभाविक रूप से विकसित होने देना चाहिये। इसलिये कलाविद् को मानव की गहन-गूढ़ गंभीर अनुभूतियों का, स्वभाव-जात वृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष का और उनके जय पराजय का विशेषज्ञ होना चाहिये। अन्यथा कलाविद् से स्वाभाविक, सजीव तथा सुन्दर रचना की आशा नहीं की जा सकती। तुम जानते हो कि मीरा गिरिधर गोपाल को पति रूप में भजती थी और उनके दर्शन की प्यासी थी ?"

"हाँ, गुरुदेव !"

"प्यास क्या है ?"

"अभाव की अनुभूति !"

"और अभाव की अनुभूति दुःखदायिनी होती है। साधारण इच्छा की पूर्त्ति न होने से साधारण दुःख होता है और प्रबल इच्छा की पूर्त्ति न होने से विशेष दुःख होता है। मीरा की इच्छा अर्थात् अभाव महान् तथा अलौकिक था और इसलिये मीरा का दुःख भी महान् तथा अलौकिक था। मीरा ने कहा था—

हे री मैं तो प्रेम दिवानी,
मेरो दरद न जाणै कोय ॥

मीरा के 'दरद' को और कोई भले ही न जाने, परन्तु मीरा

का चित्र बनानेवाले कलाकार में तो उस 'दरद' की अनुभूति होनी ही चाहिये। क्या तुम मेरी बात को समझ रहे हो ?"

"हाँ, गुरुदेव !"

"असीम के अभाव को अनुभव करनेवाली मीरा की वेदना भी असीम थी। मीरा असीम तथा अलौकिक वेदना की साकार तथा सजीव प्रतिमा थी। अब यह समझो कि अभाव दुःखदायक होने से अधिक अनुभवमय होता है। मीरा की इच्छा शक्ति प्रबल थी और इसलिये वेदना की अनुभूति भी उसमें गहरी थी। अब यहाँ एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न को तुम समझ लो। नृत्य क्या है ?"

शीलभद्र मनोयोग पूर्वक आचार्य का व्याख्यान सुन रहा था, "नृत्य मन की प्रसन्नता का—सौन्दर्यानुभूति का आकर्षक शारीरिक भाव-भंगिमा से युक्त स्वर-ताल-बद्ध प्रकटीकरण है।"

"ठीक है।" आचार्य उत्साहित हो कर बोले, "प्रसन्नता में विभोर होकर मन नाच उठता है, इससे पैर थिरक उठते हैं और नृत्य प्रारंभ हो जाता है। नृत्य के लिये मन की प्रसन्नता की अनिवार्य आवश्यकता है। दुःखी मानव नाच नहीं सकता। केवल विरह वेदना की अनुभूति से अभिभूत मीरा के लिये "पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे" कहना संभव नहीं हो सकता।"

"तो फिर मीरा की विरह वेदना और उसके नृत्य में सम्मोहक सामंजस्य कैसे स्थापित हो ?" शीलभद्र ने जिज्ञासु भाव से पूछा।

"हाँ, वही बात मैं समझा रहा हूँ। मीरा अपने प्रिय के रंग में रंग गई थी। जो जिसके रंग में अत्यधिक रंग जाता है, उसको उसकी समीपता का काल्पनिक बोध सा होने लग जाता है। वियोग की व्यथा से अत्यधिक व्यथित मीरा को काल्पनिक आभास सा

हो जाता था कि उसका गिरिधर गोपाल उसके अत्यधिक निकट है, और वह उससे उतना ही प्रेम करता है, जितना कि वह उससे करती है। और इस सुखद अनुभूति से मीरा का हृदय प्रेम और प्रसन्नता में विभोर होकर नाच उठता, पैर थिरक उठते और प्रिय को रिझाने के लिये मीरा का नृत्य प्रारंभ हो जाता। वियोग के करुण-रस के आवरण में मधुर-मिलन का शृंगार रस लुक-छिप कर अठखेलियाँ करता था और शृंगार के भीतर करुण रस आँसू बहाता था। मीरा चिर-वियोगिनी थी, और इसलिये चिर-योगिनी भी। वेदना-मिश्रित प्रसन्नता से ही मीरा का नृत्य प्रारम्भ हुआ था। वेदना के बिना मीरा की कल्पना करना मीरा के साथ अन्याय करना है और प्रसन्नता के बिना नृत्य की कल्पना करना कला के साथ अन्याय करना है। क्या तुम समझ गये ?"

"हाँ, गुरुदेव !"

"तुम में गहरी अनुभूति है। क्या तुम नृत्य करती हुई मीरा का, जैसा कि मैंने कहा है, चित्र बना सकोगे ?"

"आशीर्वाद दीजिये, गुरुदेव ! मैं आज ही चित्र का श्रीगणेश करता हूँ।" शीलभद्र ने मस्तक नमा कर कहा।

"हाँ, यदि तुम चाहो तो सुनंदा से सहायता ले सकते हो। मैंने उसे मीरा का नृत्य सिखाया है।" इतना कह कर आचार्य आसन से उठ खड़े हुए।

शीलभद्र ने आत्म-विश्वास प्रकट करते हुए कहा, "नहीं, मीरा जो कुछ थी, आपने मुझे समझा दिया है और मैं समझ गया हूँ। अब मैं केवल अपनी कल्पना शक्ति से काम लूंगा। सुनंदा की सहायता से मैं उसकी भाव-भंगिमा का केवल अनुकरण मात्र करूँगा। मैं अपनी कल्पना की मीरा का निर्माण करूँगा।"

"अच्छा, अपनी कल्पना शक्ति से काम लो। मैं संगीतशाला

जाता हूँ। सुनंदा को संगीत और नृत्य का पाठ देना है।" इतना कह कर आचार्य चित्रशाला से धीरे-धीरे चले गये।

पाँचवाँ परिच्छेद

चित्रशाला में शीलभद्र नेत्र बन्द कर ध्यानावस्थित सा होकर बैठा था। उसके शांत तथा सुन्दर मुख मण्डल पर मंद मुस्कराहट खेल रही थी। वह अपने हृदय-पट पर नृत्य करती हुई काल्पनिक मीरा की मानसिक मूर्त्ति अंकित कर रहा था।

सुनंदा ने उसी समय चित्रशाला में प्रवेश किया। वह मुस्कराती हुई शीलभद्र के सन्मुख जा खड़ी हुई और अपलक नेत्रों से उसकी ओर देखने लगी। थोड़े समय के पश्चात् वह बोली, "शीलभद्र!"

शीलभद्र सुनंदा के लिये 'आप' से 'तुम' हो गया था।

शीलभद्र ने नेत्र खोले, "तुम कब आई?"

"युवावस्था में प्रेम-योग की साधना की जाती है, ध्यान-योग की नहीं।" सुनंदा खिलखिला कर हँस पड़ी।

शीलभद्र ने प्रसन्न स्वर में कहा, "प्रेम-योग और ध्यान-योग में कोई अन्तर नहीं है। प्रेम के बिना ध्यान नहीं हो सकता, और ध्यान के बिना प्रेम नहीं हो सकता। दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।"

"परन्तु उनमें एक अन्तर है।"

"वह क्या?"

'प्रेम-योग की साधना नेत्र खोल कर की जाती है, और ध्यान-योग की साधना नेत्र बन्द करके की जाती है।" सुनंदा मुस्कराई।

शीलभद्र हँस पड़ा, "मैं एक मानसिक चित्र की रूपरेखा तैयार कर रहा था। ध्यान के बिना मानसिक चित्र नहीं बनाया जा सकता।

"किस का चित्र बनाना है ?"

"चित्र पूर्ण हो जाने पर देख लेना।"

"अच्छा !" सुनंदा ने अल्हड़ भाव से कहा, "मैं कलाकार महोदय को कल घर पर निमन्त्रित करने आई हूँ। पिताजी की इच्छा है कि कल दिन का भोजन आप हमारे यहाँ करें।"

"कल क्या कोई उत्सव है ?"

"नहीं तो।"

"फिर मुझे किस लिये आमन्त्रित किया जा रहा है ? तुम्हारे यहाँ तो आज तक मैं किसी न किसी उत्सव में ही आमन्त्रित किया जाता रहा हूँ।" शीलभद्र सुनंदा की ओर एकटक देख रहा था।

"उत्सव तो नहीं है, परन्तु उत्सव की पूर्व तैयारी के उपलक्ष्य में वह आप से बातचीत करना चाहते हैं।"

शीलभद्र और सुनंदा दोनों एक दूसरे की ओर देख कर हस पड़े।

शीलभद्र ने कहा, "अब मैं समझा। यह मेरे लिये बहुत ही प्रसन्नता की बात है, परन्तु—"

"परन्तु क्या ?"

"सुनंदा !" शीलभद्र ने गंभीर स्वर में कहा, "मुझे क्षमा करना और पिताजी से भी मेरी ओर से क्षमा-याचना करना।

कल मैं आ नहीं सकूँगा। लगभग दो सप्ताह तक मुझे एकान्त की आवश्यकता है। गुरुदेव मेरी चित्रकला की परीक्षा लेना चाहते हैं। उसी चित्र की मैं ध्यानस्थ हो कर मानसिक आकृति बना रहा था। मैं आशा करता हूं कि तुम मेरा अभिप्राय समझ गई होगी।"

सुनंदा ने कुछ उद्विग्न हो कर कहा, "तो क्या मैं यहाँ पर भी तुमसे मिल न सकूँगी?"

"नहीं।" शीलभद्र ने दृढ़ता पूर्वक कहा, "कल से मैं चित्र शाला का दरवाजा भीतर से बन्द कर चित्र बनाऊँगा। केवल दो सप्ताह की बात है। कर्तव्य के समय मनुष्य को संयम का पालन प्रसन्नता पूर्वक करना चाहिये।"

"अच्छा, नहीं आऊँगी, नहीं मिलूँगी। कहो तो पन्द्रह दिन तक संगीत-नृत्य का अभ्यास करना ही बन्द कर दूँगी। कहीं ऐसा न हो कि मेरी तान सुन कर तुम्हारी तूलिका रुक जाय।" इतना कह कर सुनंदा हँस पड़ी, परन्तु वह हँसी रूखी थी। उसका मन कुछ उदास हो गया था।

"खुले मन और स्वर से गाने से मैं तुम्हें मना नहीं करता। बाहर का कोलाहल मेरी एकाग्रता में बाधक नहीं बन सकता।"

"तुम्हारी इच्छा का पूर्णतया पालन होगा, इतना विश्वास रखो। अब मैं जाती हूँ। तुम्हारा समय अधिक नष्ट नहीं करूँगी, अच्छा!" इतना कह कर सुनंदा ने दोनों हाथ जोड़ दिये और वह जाने लगी।

शीलभद्र ने कहा, "जाने की शीघ्रता क्यों? नाराज तो नहीं हुई?"

"जाना था, इसलिये जा रही थी। मैं तुमसे नाराज क्यों होऊँ? मैं तो परीक्षा में तुम्हारी सफलता चाहती हूँ। कल का

निमंत्रण तुम स्वीकार न कर सके, इसलिये चित्त कुछ उद्विग्न अवश्य है। मन के विरुद्ध बात हो जाय, तो मन उद्विग्न हो ही जाता है। यह उसका स्वभाव है, परन्तु मैं तुमसे नाराज नहीं हूँ, यह विश्वास रखो।"

"साधारण बात से उद्विग्न होना ठीक नहीं है, सुनंदा! यह मानसिक दुर्बलता है।"

"नारी का स्वभाव कोमल होता है, शीलभद्र!"

"मुझे बताओ कि तुम्हारी उद्विग्नता का अन्त करने के लिये मैं क्या करूँ? कहो तो मैं तुम्हारा निमन्त्रण स्वीकार कर सकता हूँ, परन्तु यह बताये देता हूँ कि मेरा मस्तिष्क इस समय चित्र की उलझन में उलझा हुआ है, और मैं चित्र के सिवा और किसी अन्य बात में जीवन का रस नहीं ले सकता।"

"परीक्षा का नाम सुन कर मैंने तुमसे निमन्त्रण स्वीकार करने का आग्रह किया ही नहीं। तुम पहले चित्र पूर्ण करो। मेरी उद्विग्नता दूर हो गई।" सुनंदा ने प्रसन्न स्वर में कहा, "अच्छा, अब मुझे आज्ञा दो।" इतना कह कर वह चित्रशाला से बाहर आई और गाड़ी में बैठ कर घर की ओर रवाना हुई।

घर पहुँची, तो माता ने कहा, "सुनंदा, तुम्हें छोटी रानी साहिबा ने बुलाया है। मैंने कहला भेजा कि कला-मन्दिर से लौट आने के बाद सुनंदा आ जायेगी।"

रानी का निमन्त्रण सुन कर सुनंदा के माथे पर बल पड़ गये। "अच्छा!" कह कर वह शयन गृह में जाकर पलंग पर थोड़ी देर तक विचारमग्न होकर यूँ ही लेटी पड़ी रही।

"भोजन तैयार है।" परिचारिका ने आकर कहा।

"भोजन नहीं करूँगी।"

"क्यों? तबियत तो ठीक है?"

"हाँ, इच्छा नहीं है ।"

"अच्छा !" कह कर परिचारिका लौट गई ।

थोड़े समय के पश्चात् सुनंदा पलंग से उठ कर शृङ्गार गृह में गई । वहाँ वस्त्र बदल कर वह बनाव-सिंगार करने लगी ।

उसी समय सुनंदा की छोटी बहिन एकादश वर्षीया बालिका सुधा शृङ्गार गृह में आई, और सुनंदा के बनाव-सिंगार की ओर एकटक देखने लगी । फिर बोली, "दीदी, तुम तो सदा आने-जाने में ही लगी रहती हो । अब कहाँ जा रही हो ?"

सुधा सुधा सी मधुर बालिका थी । जितनी चंचल, उतनी ही गंभीर । जितनी भोली, उतनी ही समझदार । उसका सौन्दर्य और स्वभाव दोनों आकर्षक थे ।

"सुनंदा ने कहा, "राजप्रासाद !"

"किस लिये ?" सुधा ने जिज्ञासु भाव से पूछा

"मैं नहीं जानती । छोटी रानी साहिबा ने बुलाया है ।"

"बड़ी को सभी बुलाते हैं, छोटी को कोई पूछता ही नहीं ।"

सुनंदा हँस पड़ी, "तो तुम भी बड़ी बन जाओ ।"

"यह क्या मेरे बस की बात है ? बस की बात होती तो मैं अभी तक बहुत बड़ी बन जाती ।"

"फिर क्या करती ?"

सुधा ने आँखें नचा कर कहा, "करती क्या ? कभी इधर जाती, कभी उधर जाती । कभी कोई बुलाता, कभी कोई मिलने आता । आने-जाने और मिलने-बोलने में ही लगी रहती । तुम यही तो करती हो । बड़ी बनने में और रखा ही क्या है ?"

सुनंदा मुस्कराई, "सुधा, तुम बड़ी बातूनी हो गई हो । जाओ, गाड़ीवान से कहो कि गाड़ी तैयार करे ।"

"दीदी, एक बात पूछूँ ?"

"पूछो।"

सुधा गंभीर हो गई, "युवराज पहले तो अपने यहाँ बार-बार आते थे, अब नहीं आते। क्या वह नाराज हो गये हैं ?"

"मैं नहीं जानती।" सुनंदा ने रूखे स्वर में कहा।

"उस दिन पिताजी माताजी से कह रहे थे, "सुनंदा अब युवराज को नहीं चाहती। वह शीलभद्र को चाहती है। हमें उसकी इच्छानुसार ही चलना चाहिये। सुनंदा अपना बुरा-भला समझने योग्य है।" सुधा ने गंभीर स्वर में कहा।

"तो माताजी ने क्या कहा ?" सुनंदा ने उत्कण्ठापूर्वक पूछा। वह सुधा की बात बड़े ध्यान से सुन रही थी।

"माताजी ने कहा, "पहले तो युवराज को ही चाहती थी। न जाने क्यों, अब शीलभद्र की ओर आकर्षित हुई है। युवराज से विवाह सम्बन्ध होता, तो इससे हमारी प्रतिष्ठा बढ़ जाती।"

"तो पिताजी ने क्या कहा ?"

"पिताजी ने कहा, "हमारी प्रतिष्ठा का प्रश्न गौण है। सुनंदा का सुख ही हमारे लिये सर्वोपरि है। युवराज सुन्दर है, परन्तु सुशील नहीं है। शीलभद्र उच्च कुलोत्पन्न है और सौन्दर्य में युवराज से कम नहीं है। गुण-शील में वह युवराज से श्रेष्ठ है। मैं तो युवराज से शीलभद्र को ही अच्छा समझता हूँ। महाराजा योगेन्द्रसिंह की दो पत्नियाँ जीवित हैं, और एक मर चुकी है। यदि युवराज भी दो-चार स्त्रियों से विवाह कर बैठे, तो सुनंदा को क्या सुख मिलेगा ?"

"तो फिर माताजी ने क्या कहा ?"

"माताजी ने कहा, "बात तो ठीक है। शीलभद्र से ही शीघ्र शुभ-मंगल कर दीजिये। सुनंदा अब पर्याप्त वयस्का हो गई है।"

"तो फिर पिताजी ने क्या कहा ?"

"पिताजी ने कहा, "अब अधिक विलंब नहीं करूँगा।"

"तो फिर माताजी ने क्या कहा ?" सुनंदा ने अधीर होकर पूछा। सुधा की बातें सुनने में वह तल्लीन हो गई थी।

सुधा ने सुनंदा की ओर एकटक देखते हुए कृत्रिम रोषपूर्ण स्वर में कहा, "तो फिर माताजी ने क्या कहा ? तो फिर पिताजी ने क्या कहा ? बात पूरी हो गई, फिर भी तुम पूछती ही जा रही हो ! दीदी, तुम्हें क्या हो गया है ?"

सुनंदा ने दोनों हाथों से सुधा के दोनों अरुण कपोलों पर थपकियाँ देते हुए हँस कर कहा, "मेरी प्यारी बहन, मेरी अच्छी बहन !" इतना कह कर वह बाहर आई और गाड़ीवान से गाड़ी जुतवा कर राजप्रासाद की ओर रवाना हुई।

छठा परिच्छेद

राज-परिवार के प्रमुख सदस्यों की हार्दिक इच्छा थी कि युवराज का विवाह सुनंदा से हो। इस इच्छा का कारण दोनों परिवारों का घनिष्ठ सम्बन्ध और युवराज का सुनंदा के प्रति अनुराग था। जब सुनंदा ने युवराज से स्पष्ट कह दिया कि मैं आपसे विवाह करना नहीं चाहती, तो युवराज की आशा-अभिलाषा पर तुषारापात हुआ। इसमें युवराज को अपमान सा प्रतीत हुआ और वह बड़ा ही दुःखी हुआ। वह अपने दुःख और अपमान-जनित मानसिक अशान्ति को दूर करने के लिये मदिरा से लबालब भरे हुए पात्र पहले से भी अधिक हलक के नीचे उतारने लगा। कभी-कभी वह नगर की प्रख्यात नर्तकी नयनतारा के भवन में जाता और अपने दिल को बहला आता।

युवराज की मानसिक अशान्ति को महाराजा योगेन्द्रसिंह जान गये और साथ ही चिंता-ग्रस्त हो गये। महाराजा ने सेनापति इन्द्रसेन से इस विषय पर विचार-विमर्ष किया। सेनापति ने स्पष्टतया कहा कि सुनंदा शीलभद्र को चाहती है और हम उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी करना नहीं चाहते। महाराजा ने छोटी रानी जयमाला से कहा कि तुम सुनंदा को एकान्त में

समझा कर युवराज से विवाह करने के लिये प्रेरित करो। महाराजा की आज्ञानुसार ही रानी जयमाला ने सुनंदा को आमंत्रित किया था।

राजप्रासाद के अन्तःपुर में अपने विश्राम गृह में रानी जयमाला ने सुनंदा को बहुत कुछ समझाते हुए कहा "सुनंदा, तुम्हारे विचार-परिवर्तन पर मुझे खेद है और आश्चर्य भी। राजा की रानी बनने का सौभाग्य किसी भाग्यशालिनी स्त्री को ही प्राप्त होता है। तुम उस सौभाग्य को क्यों ठुकरा रही हो, यह मैं समझ नहीं पा रही हूँ। सारा राज-परिवार चाहता है कि युवराज से विवाह कर तुम इस राज्य की स्वामिनी बनो। तुम जानती हो कि युवराज तुम्हें हृदय से चाहते हैं। सौभाग्य तुम्हारा स्वागत करने के लिये लालायित हो रहा है और तुम हो कि उस स्वागत से मुँह फेर रही हो। तुम युवराज को चाहती थी। फिर क्या बात हुई कि तुमने युवराज से मुँह मोड़ लिया?"

सुनंदा विनय पूर्वक बोली, "मैं इस बात की मनोवैज्ञानिक विवेचना आप के सामने नहीं कर सकती। आयु-वृद्धि के साथ विचार शक्ति भी बढ़ती है। जब मैं अपना बुरा-भला समझने योग्य हुई, तो मैंने युवराज की अपेक्षा शीलभद्र को अधिक अपने अनुरूप तथा अनुकूल पाया। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकती।"

"युवराज राज्य का स्वामी है, और शीलभद्र एक साधारण सामन्त है, इस बात को तुमने कुछ भी महत्व नहीं दिया?"

"शीलभद्र साधारण सामन्त है, परन्तु महान् दार्शनिक कलाकार है। राजा केवल अपने राज्य में मान पाता है, परन्तु विद्वान् कलाकार सर्वत्र पूजा जाता है।"

"तो तुम्हारा निर्णय अटल है?"

"हाँ, मैं विवश हूँ। यह हृदय का प्रश्न है। मैं आपसे क्षमा चाहती हूँ।" सुनंदा ने विनीत भाव से कहा।

जयमाला ने हँस कर कहा, "इसमें क्षमा माँगने का कोई प्रश्न नहीं है। मैं तुमसे नाराज नहीं हूँ। हृदय की प्रेरणा के अनुसार वर-निर्वाचन करने का तुम्हें अधिकार है। मैं तुम्हारा सुख-सौभाग्य चाहती हूँ।"

"अब मैं आज्ञा चाहती हूँ।"

"अब तुमने राजप्रासाद में आना बहुत ही कम कर दिया है। यह ठीक नहीं। तुम अपनी इच्छा के अनुसार शीलभद्र से विवाह करो, परन्तु राजप्रासाद में पहले की तरह आ जाया करो, समझी?"

"अच्छा!" कह कर अभिवादन करने के पश्चात् सुनंदा अन्तःपुर के द्वार से बाहर आई, तो सामने दालान में युवराज को खड़ा देख कर उसका माथा ठनका। वह एकदम सहम सी गई, परन्तु शीघ्र ही प्रकृतिस्थ होकर सिर झुकाये अपने मार्ग से जाने लगी, तो युवराज मुस्करा कर बोला, "सुनंदा, क्या अब मुझसे इतनी घृणा हो गई कि मुझसे दो शब्द बोलने को भी तुम्हारा जी नहीं चाहता?"

सुनंदा ठिठकी और सिर झुका कर गुम सी खड़ी रही। वह समझ नहीं पा रही थी कि वह बोले तो क्या बोले। कुछ क्षण बाद वह बोली, "मैं आपसे न तो घृणा करती हूँ और न प्रेम करती हूँ। ऐसी अवस्था में आपसे दो शब्द बोलने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।"

युवराज उस समय मदिरा पिये हुए था। वह होश में था, परन्तु हल्के गुलाबी नशे की लहरें उसके मस्तिष्क में चक्कर काट रही थीं। वह भर्राई हुई आवाज में बोला, "सुनंदा, तुम्हारे

कोमल शरीर में इतना कठोर हृदय होगा, इसकी मैंने कल्पना तक नहीं की थी। क्या थी और क्या हो गई ? तुम राधा के समान प्रेममयी थी, परन्तु अब कैकयी के समान कठोर बन गई हो। सुनंदा, कहाँ तो तुम मुझ से मिलने-बोलने के लिये लालायित रहती थी, परन्तु अब एक भयानक बला समझ कर मुझसे बचना चाहती हो। तुम्हारे हृदय में चाहे जो परिवर्तन हुआ हो, परन्तु मेरा हृदय वैसा ही है, जैसा कि पहले था। मैं अब भी तुम्हें प्यार की दृष्टि से देखता हूँ। और मेरा यह अधिकार तुम दूसरे से विवाहित हो जाने पर भी मुझसे छीन नहीं सकती। मैं तुम्हारा और तुम्हारे प्रेम का अब भी प्यासा हूँ। प्यासा पानी की ओर ललचाई दृष्टि से ही देखता रहेगा। यह प्राकृतिक नियम है। कृत्रिम नैतिक नियमों से प्रकृति के नियम बलवान हैं। मैं हृदय की बात स्पष्ट शब्दों में तुम्हारे सामने रख रहा हूँ, इसलिये मुझसे भयभीत न हो। मैं ऐसी कोई बात नहीं करूँगा, जो तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध हो।"

"क्या आप मेरी इच्छा का आदर करते हैं ?" सुनंदा ने कुछ त्रस्त स्वर में पूछा।

"हाँ, निस्सन्देह !"

"तो आप मुझे प्रेम दृष्टि से न देखिए।"

नशे की उमंग में युवराज जोर से अट्टहास कर उठा, "मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह अधिकार तुम मुझसे छीन नहीं सकती। शीलभद्र से विवाह करने पर भी तुम मुझसे यह अधिकार नहीं छीन सकती। इस बात में मैं बेबस हूँ। तुम्हारे हृदय परिवर्तन से मेरा हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है। मैं तो जैसा था, वैसा ही हूँ। फिर मेरा दृष्टि-परिवर्तन कैसे हो सकता है ? मुझे घायल करना तुमने अपना अधिकार समझा। तो क्या घायल

को तड़पने का अधिकार भी तुम देना नहीं चाहती ? वाह री कठोर दुनिया !"

सुनंदा गंभीर स्वर में बोली, "पर-स्त्री की ओर वासनात्मक प्रेम दृष्टि से देखना नैतिक नियम के विरुद्ध है।"

युवराज ने अपनी स्थिर दृष्टि सुनंदा के मुख पर गड़ा कर कहा, "फिर वही नैतिक नियम की बात ! जिसको मैंने चाहा और जिसने मुझे चाहा था, अब दोनों के बीच यदि नैतिक नियम की दीवार बाधक बन कर खड़ी होती है, तो मेरे लिये इतना ही यथेष्ट है कि मैं उस दीवार को तोड़ कर या फाँद कर उस पार जाने का प्रयत्न न करूँ। इससे वह दीवार सुरक्षित बनी रहेगी। यदि मैं इस पार रह कर दीवार के उस पार रहनेवाले को याद करता हूँ और चाहता रहता हूँ, तो इससे दीवार की सुरक्षितता में कोई अन्तर नहीं आता। मेरे निरुपद्रवी वैयक्तिक रुदन को रोकने का उस दीवार को कोई अधिकार नहीं है। नैतिक नियम व्यक्ति के व्यवहार का नियमन करता है, भावनाओं का नहीं। सुनंदा, मैं तुम्हें उसी दृष्टि से देखता रहूंगा। परन्तु वह दृष्टि तुम्हारे निर्धारित मार्ग में बाधक नहीं बनेगी, इतना विश्वास रखो। मैं तुम्हें चाहता था, और तुमसे विवाह करना चाहता था, इस बात को सभी जानते हैं। मुझसे विवाह न करने का निर्णय कर तुमने मुझे सबके सामने अपमानित किया है। अपमान की आँच से प्रतिशोध की आग धधक उठी, परन्तु मैंने उसको बुझा दिया। जिससे प्रेम किया जाता है, उससे बदला नहीं लिया जाता।"

सुनंदा कुछ तीव्र स्वर में बोली, "युवराज, मैंने वर-निर्वाचन में अपनी बुद्धि से काम लिया, यह मेरा आपके प्रति अन्याय नहीं है। मैंने न तो आपसे अन्याय किया है और न आपका अपमान

किया है। आपका स्वार्थ वर-निर्वाचन के मेरे वैयक्तिक जन्मसिद्ध अधिकार को स्वीकार नहीं करना चाहता।"

युवराज ने शाँत स्वर में कहा, "मैं तुम्हारे वर-निर्वाचन के जन्मसिद्ध वैयक्तिक अधिकार को अस्वीकार नहीं करता। तुमने मेरे साथ न तो अन्याय किया है और न ही प्रत्यक्ष रूप से मेरा अपमान किया है, परन्तु तुमने जो कुछ किया, उससे परोक्ष रूप से मेरा अपमान हुआ है। इसके लिये मैं तुम्हें दोष नहीं देता। इसीलिये उस अपमान की कड़वी घूँट को मैं जी मसोस कर पी गया हूँ। तुम अपने निर्धारित मार्ग पर जा सकती हो। मेरा तुमसे अब भी प्रेम है, परन्तु तुम्हारे सामने दीन बन कर प्रेमदान की भिक्षा कभी नहीं मागूँगा। मैं तुमसे अनुनय-विनय नहीं करूँगा।"

सुनंदा ने जोर देकर कहा, "जब मैं दूसरे को चाहती हूँ, तो मुझे चाहने का आपको कोई अधिकार नहीं है।"

"एक दृष्टि से तुम्हारा कथन उचित है," युवराज ने स्निग्ध स्वर में कहा, "परन्तु यह हृदय का प्रश्न है, भावना का प्रश्न है। चन्द्रमा चकोर को भले ही न चाहे, परन्तु चन्द्रमा को चाहने का चकोर को अधिकार है। स्वाति नक्षत्र की बून्द चातक को भले ही न चाहे, परन्तु उस बून्द को चाहने का चातक को अधिकार है। जल मछली को भले ही न चाहे, पर जल को चाहने का मछली को अधिकार है। बादल मोर को भले ही न चाहे, परन्तु बादल को चाहने का मोर को अधिकार है। भगवान भक्त को भले ही न चाहे, परन्तु भगवान को चाहने का भक्त को अधिकार है। प्रकृति में एकांगी प्रेम के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं, और कवियों ने उस एकांगी प्रेम की प्रशंसा में सफेद कागज के ढेर के ढेर काले कर दिये हैं। मेरी चाहना तुम्हारे अधिकार पर आक्रमण नहीं है।"

"परन्तु इसमें सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण है।" सुनंदा ने क्षुब्ध होकर कहा।

"सामाजिक मर्यादा के तराजू में व्यक्ति का व्यवहार तोला जाता है, उसकी भावना नहीं। प्रत्येक मनुष्य अपने हृदय-राज्य का स्वामी है, और हृदय में चाहे जो कल्पना करने का काल्पनिक अधिकार उसे प्राप्त है। उस कल्पना राज्य में समाज के नैतिक नियम का प्रहरी प्रवेश नहीं कर सकता।"

सुनंदा कुछ देर तक मौन रही। फिर बोली, "आपने अपने पक्ष के समर्थनार्थ जो चकोर-चातक और मोर-मछली के उदाहरण उपस्थित किये हैं, वह एकनिष्ठ प्रेम के परिचायक हैं। क्या आपको एकनिष्ठ प्रेम में विश्वास प्राप्त है?"

युवराज चौंक उठा। उसे सुनंदा से इस प्रश्न की आशा नहीं थी। वह कुछ क्षण विचार-मग्न हुआ। फिर बोला, "नैतिक नियमों के बाजार में अपना मूल्य बाजार-मूल्य से न गिरने पाये, इस उद्देश्य से अपने अन्तस्तल के भावों को छिपाने के लिये मनुष्य भाषा का प्रयोग करता है। मैं खुले मन का मनुष्य हूँ। अपने भावों को छिपाना मैं नहीं जानता। मेरा एकनिष्ठ प्रेम में विश्वास नहीं है। एकनिष्ठ प्रेम समाज-व्यवस्था के कृत्रिम नियमों की विवशतापूर्ण उपज है। स्त्री-पुरुषों में स्वाभाविक आकर्षण है। विवाह के द्वारा उस आकर्षण को सीमित तथा नियमित करने का प्रयत्न किया गया है, और व्यवस्था की दृष्टि से वैसा करना उचित था। परन्तु क्या स्त्री-पुरुष हृदय से एकनिष्ठ होते हैं? जीवन की विवशता उनसे बाह्य दृष्टि से एकनिष्ठता का पालन जबर्दस्ती कराती है। जिसमें जबर्दस्ती है, उसमें मेरा विश्वास नहीं है। मानव के प्रेम का क्षेत्र विस्तृत है और उसमें एक से अधिक को स्थान मिल सकता है। इतिहास और धर्मग्रन्थों में

ऐसे अनेक महापुरुषों की जीवनियाँ अंकित हैं, जिनकी एक से अधिक पत्नियाँ थीं, और फिर भी वे धर्मात्मा और उदार-चरित्र माने गये हैं।"

सुनंदा ने रोष पूर्ण स्वर में कहा, "आप अपनी भ्रमर-वृत्ति का समर्थन करने के लिये धर्मात्मा पुरुषों की आड़ ले रहे हैं। अर्जुन की अनेक पत्नियाँ थीं, परन्तु उनकी प्रेम भावना उन पत्नियों में ही केन्द्रित थी। प्रेमोत्सुका उर्वशी को माता के समान समझने की योग्यता अर्जुन में विद्यमान थी। उनकी अनेक-निष्ठता भी नियंत्रित थी।"

युवराज हँस पड़ा, "मैं मानता हूँ कि उनकी अनेक-निष्ठता भी नियंत्रित थी और इसी लिये वह धर्मात्मा माने गये। अनियंत्रित एक-निष्ठता की अपेक्षा नियंत्रित अनेक-निष्ठता का मूल्य अधिक है। मैं केवल यही कहना चाहता था कि अनेक-निष्ठता स्वाभाविक है। नियंत्रित या अनियंत्रित का प्रश्न मनुष्य की योग्यता पर निर्भर करता है। मैं साधारण हूँ, अर्जुन के समान असाधारण नहीं।"

सुनंदा को युवराज की विचार-धारा से उसकी लोलुपता का ज्ञान हुआ। युवराज की लोलुपता से उसे घृणा हो आई, परन्तु वह युवराज को विवाद में परास्त नहीं कर पा रही थी। वह यह भी समझ गई कि युवराज को पराजित करना उसके लिये असंभव सा ही है। युवराज युक्ति-युक्त बोलने में खूब चतुर है, यह उसने आज अनुभव किया। युवराज की तर्क शक्ति से वह प्रभावान्वित हुई, परन्तु वह उससे सहमत न हो पाई। विवाद व्यर्थ है, यह समझ कर सुनंदा ने कहा, "ठीक है। अपने-अपने विचार हैं। जब हमारे मार्ग पृथक्-पृथक् हैं, तो फिर विवाद व्यर्थ है। अच्छा, अब मैं आपसे आज्ञा चाहती हूँ।" और अभिवा-

दन कर वह जाने लगी, तो युवराज ने उसको ललचाई आँखों से देखा, "सुनंदा, जा रही हो। जाओ और सुखी रहो। ईश्वर तुम्हें सुखी रखे, यह मेरी हार्दिक मंगल-कामना है।"

सुनंदा ने रुक कर कहा, "मैं भी आपका सुख-सौभाग्य चाहती हूँ।" इतना कह कर वह राजप्रासाद से चली गई।

सातवाँ परिच्छेद

पन्द्रह दिन के अविश्रान्त परिश्रम के पश्चात् शीलभद्र ने मीरा का चित्र पूर्ण किया। चित्र में विरह वेदना की व्याकुलता और मधुर-मिलन की प्रसन्नता का सम्मोहक सामंजस्य उच्च कला का परिचायक था। प्रसन्नता के आवरण के भीतर वेदना की विद्यमानता चित्र की विशेषता थी। मीरा की कृश-काया, खुले बाल, कंधे से खिसका हुआ साड़ी का आंचल, अध-खुली आँखें, भाव-तन्मयता, एक हाथ में एकतारा, दूसरे ऊपर उठाये हाथ में करताल, मुरझाये चेहरे पर मन्द मुस्कराहट, नृत्याभिनय में पद-रचना-इस प्रकार चित्र में व्यथा और आनंद का अद्भुत परंतु समुचित सम्मिश्रण था। चित्र में एक गति थी।

प्रसव-वेदना के पश्चात् अबोध बालक को सामने खेलते देख कर माता के हृदय में जो भाव उठता है, वैसा ही भाव शीलभद्र में उठा। हाथ में तूलिका लिये वह चित्र को कभी इधर से कभी उधर से कभी निकट से और कभी दूर से ध्यान पूर्वक देखने लगा। आखिर वह स्थिर खड़ा होकर स्थिर-दृष्टि से चित्र को देखने लगा।

उसी समय दबे पांव धीरे-धीरे सुनंदा ने चित्रशाला में प्रवेश

किया। उसके पैर में घुंघरू बंधे थे। वह दूर ही से चित्र को देखने लगी। फिर वह शीघ्र ही दबे पाँव बाहर चली गई। थोड़े समय के पश्चात् वह एकतारा और करताल लिये फिर दबे पांव चित्रशाला में आई और शीलभद्र के पीछे कुछ अन्तर पर खड़ी होकर चित्र को ध्यान से देखने लगी। और फिर वह चित्रित मीरा की भाव-भंगिमा का अनुकरण कर वैसी ही नृत्यावस्था में चित्र सी खड़ी हो गई। शीलभद्र सुनंदा की उपस्थिति से अनभिज्ञ था।

उसी समय आचार्य ने भी चित्रशाला में पदार्पण किया। शीलभद्र और सुनंदा को विशिष्ट अवस्था में खड़ा देख कर वह चकित होकर ठिठक गये। फिर वह एक स्तम्भ की आड़ में खड़े होकर चित्र, शीलभद्र और सुनंदा की ओर आँखें घुमा-फिरा कर देखने लगे। आचार्य के आगमन से शीलभद्र और सुनंदा दोनों अनभिज्ञ थे।

शीलभद्र तल्लीन होकर चित्र देख रहा था। भाव-धारा में बहते हुए वह चित्र से बोला, "मीरा, तुम मेरी कल्पना की मीरा हो। मैंने अपनी कल्पना से तुम्हें बनाया है। कल्पना में न्यूनाधिकता का दोष अनिवार्य है। इसके लिये मैं तुमसे क्षमा मांगता हूँ। विराट की व्यथा लेकर तुम इस पृथ्वीतल पर आई थी और व्यथा के गीतों की गंगा बहा कर गिरिधर गोपाल के पास चली गई। लौकिक पर अलौकिक की महत्ता प्रमाणित करने के लिये तुम भी अलौकिक हो गई। मेरी कला जड़ है। मैंने तुम्हें जड़ बनाया है। काश, मैं जड़ में चेतन की स्थापना कर सकता, निष्प्राण में प्राण की प्रतिष्ठा कर सकता, तो आज तुमको सजीव बना कर मैं तुमसे कहता—मीरा, गाओ और नाचो।"

उसी समय सुनंदा ने मीरा का गीत गाकर मीरा का नृत्य प्रारम्भ किया।

शीलभद्र ने चौंक कर पीछे की ओर देखा—नृत्य करती हुई सुनंदा गा रही थी—

पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे।
मैं तो मेरे नारायण की आपहि हो गई दासी रे॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अविनाशी रे॥

गीत-नृत्य समाप्त होते ही आचार्य सामने आये। उनकी आँखों में आनंदाश्रु चमक रहे थे। शीलभद्र और सुनंदा दोनों ने संकोच के साथ उनको मस्तक नमा कर प्रणाम किया। दोनों के कन्धों पर दोनों हाथ रख कर आचार्य चित्र की ओर देखते हुए बोले, "शीलभद्र, तुम अपनी कला को जड़ न समझो। चेतन मानव के हृदय को स्पर्श कर उसको आकर्षित करनेवाली कला सजीव होती है, जड़ नहीं। जड़ कला तो वह होती है, जो मानव-हृदय में स्पंदन उत्पन्न नहीं करती। तुम्हारी सजीव कला ने सुनंदा जैसी कला की उपासिका को नचाया है। दार्शनिक दृष्टि से जड़ में भी चेतन विद्यमान है। इसी लिये परमात्म-तत्व को सर्वव्यापक माना जाता है। तुम्हारी कला सजीव है। अग्नि में धूंए की तरह संसार में सभी कर्म सदोष होते हैं। मानव स्वयं पूर्णतया निर्दोष नहीं है। अतः उस की कला भी पूर्णतया निर्दोष हो नहीं सकती। तुम्हारा चित्र भी निर्दोष नहीं है। कुछ सूक्ष्म दोष हैं परन्तु गुणों की अधिकता में वे दोष लुप्त हो गये हैं। साधारण कलाकार को वे दोष दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। उन दोषों की विवेचना मैं फिर करूँगा। तुम्हारा यह चित्र तुम्हारी उच्च कला प्रतिभा का द्योतक है। मेरी कल्पना की मीरा को तुमने साकार बनाया है। परीक्षा में तुम उत्तीर्ण हुए हो।" यह कह कर आचार्य उच्चासन पर विराजमान हुए। शीलभद्र और सुनंदा उनके सामने बैठ गये।

पैर के घुंघरू छोड़ते हुए सुनंदा ने कहा, "गुरुदेव, चित्रकला श्रेष्ठ है या संगीत-नृत्य कला ? शीलभद्र का कथन है कि जिसको जो कला श्रेष्ठ प्रतीत हो, उसके लिये वही श्रेष्ठ है। यह तो वैयक्तिक मत हुआ। मैं शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर चाहती हूँ।"

आचार्य के दैदीप्यमान मुखमण्डल पर मन्द मुस्कराहट दौड़ गई। उन्होंने अपनी आँखें बन्द कीं। कुछ क्षण पश्चात् आँखें खोल कर उन्होंने कहा, "कला-विवेचकों और साहित्यकारों ने भाव को व्यक्त करने के उपकरण की सूक्ष्मता तथा स्थूलता की दृष्टि से ललित कलाओं में उच्च-नीच का भेद स्थापित किया है। परंतु उनमें भी मतभेद है। कोई काव्य कला को सर्वश्रेष्ठ समझता है और कोई संगीत कला को। चित्रकला को सर्वश्रेष्ठ समझने वालों का भी एक वर्ग है। मूर्तिकला और वास्तुकला को क्रमशः निम्न कोटि का माना गया है। परन्तु मैं ललित कलाओं में उच्च-नीच का भेद नहीं मानता। प्रत्येक कला के प्रकटीकरण में उपादान की भिन्नता होते हुए भी पाँचों ललित कलाओं में सौन्दर्यनुभूति को व्यक्त करने के नैपुण्य की साधना समान होती है। उपादान की सूक्ष्मता तथा स्थूलता से किसी कला को उच्च तथा नीच समझना जड़ उपादान को ही सब कुछ समझ कर चेतन कलाकार की साधना-जनित कल्पना तथा प्रतिभा की उपेक्षा करना है। इसलिये उपादान का विचार न करते हुए प्रत्येक कला में सौन्दर्य भावना को व्यक्त करने की समान साधना की दृष्टि से मैं पाँचों ललित कलाओं को समान मानता हूँ। क्या तुम मेरे अभिप्राय को समझी ?

"हाँ, गुरुदेव !"

कुछ क्षण रुक कर आचार्य ने कहा, "ललित कलाओं में वास्तु कला को सबसे निम्न कोटि का माना गया है और इसमें लगभग

सभी सहमत हैं। आगरे का ताजमहल उच्च कोटि की वास्तुकला का प्रतीक तथा परिचायक है। ताजमहल किसी कवि के काव्य से, गायक के संगीत से, चित्रकार के चित्र से और मूर्त्तिकार की मूर्त्ति से कला, भाव, सौन्दर्य तथा आकर्षण में कम नहीं है। कला-रसज्ञ के लिये ताजमहल उच्च कोटि का भावपूर्ण काव्य है मधुर संगीत है, कलापूर्ण चित्र है और मनोहारी मूर्त्ति है। (शीलभद्र की ओर देख कर) शीलभद्र, तुम्हें अजन्ता, एलोरा, सारनाथ, कांची, आगरा आदि कलापूर्ण दर्शनीय स्थान अवश्य देखने चाहिये। इससे तुम्हारे कला-विषयक ज्ञान में वृद्धि होगी।"

शीलभद्र बोला, "हां, मैं शीघ्र ही इन स्थानों को देखना चाहता हूँ।"

"तो फिर गुरुदेव," सुनंदा ने मुस्करा कर कहा, "शीलभद्र का यह मत कि जिसको जो कला श्रेष्ठ प्रतीत हो, उसके लिये वही श्रेष्ठ है, ठीक ही है।"

"हाँ," आचार्य ने सस्मित कहा, "मानव के स्वाभाविक रुचि-वैचित्र्य की दृष्टि से शीलभद्र का मत सही है। वैयक्तिक दृष्टि से मैं संयमपूर्ण सदाचार को ही सर्वश्रेष्ठ कला मानता हूँ। सदाचार जीवन-कला है, जिससे मानव के आन्तरिक सौंदर्य का विकास होता है। मानव के बाह्य सौंदर्य की अपेक्षा उसका आन्तरिक सौंदर्य श्रेष्ठ है। जो जीवन-कला जानता है, वही वास्तव में सच्चा कलाकार है और वह धन्य है।" इतना कह कर आचार्य ने विचारमग्न होकर आँखें बन्द कर लीं। कुछ क्षण बाद आँखें खोल कर वह शांत स्वर में बोले, "कला-मंदिर को संस्था के रूप में बन्द कर देने के पश्चात् न जाने किस प्रेरणा से मैंने तुम दोनों को कला-शिक्षा देना स्वीकार किया। तुम दोनों मेरे अन्तिम शिष्य हो। कला-मंदिर तुम्हारा है। मैं तुम दोनों का मंगल चाहता

हूँ।" यह कह कर आचार्य उठ खड़े हुए।

शीलभद्र और सुनंदा ने उठ कर आचार्य को मस्तक नमा कर प्रणाम किया।

आचार्य बोले, "सुनंदा, संगीतशाला में मेरी एक पोथी रह गई है। वह मुझे ला दो। मैं अध्ययन-गृह में जा रहा हूँ।" इतना कह कर आचार्य चले गये। सुनंदा भी चली गई।

शीलभद्र फिर चित्र देखने में व्यस्त हो गया।

थोड़े समय के बाद सुनंदा लौट आई। हँस कर बोली, "शील-भद्र, गुरुदेव ने आज हम दोनों का पागलपन देख कर मन में जाने क्या सोचा होगा? मैं तो नृत्य करने को जैसी विवश-सी हो गई। और तुमने तो चित्र से ही बोलना प्रारंभ कर दिया। मैं भी पागल और तुम भी पागल!"

शीलभद्र मुस्कराया, "हमारा आज का पागलपन हमारी कला-साधना की सफलता का द्योतक है। गुरुदेव हमारे पागलपन पर प्रसन्न हुए। उनकी आँखों में आनंदाश्रु चमक रहे थे।

"शीलभद्र, अब तुम परीक्षोत्तीर्ण हुए हो। अब मेरा निमंत्रण स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। कल तुम्हें मेरे घर आना होगा। आओगे न?"

"अवश्य, अब मैं निश्चित हूँ। परंतु आज तुम्हें मेरे भवन पर आना होगा। याद है, दीदी को तुमने भजन सुनाने का आश्वासन दिया था?"

"हाँ, याद है। मैं सायंकाल के समय तुम्हारे घर आ जाऊँगी।"

"तो अब मैं चलता हूँ। पन्द्रह दिन के अविश्रान्त परिश्रम से कुछ थकावट सी अनुभव कर रहा हूँ। आज घर पर पूर्ण विश्राम करूँगा।"

"हाँ, जाओ। आज पूर्ण विश्राम करो। शक्ति से अधिक परिश्रम

स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है। मैं गुरुदेव को फलाहार करवा कर घर जाऊँगी।"

"अच्छा, तो मैं चलता हूँ।" इतना कह कर शीलभद्र सुनंदा के साथ चित्रशाला से चला गया।

आठवाँ परिच्छेद

मंगल प्रभात ! अरुणोदय का समय हो गया था। पूर्व दिशा का क्षितिज सुहागिनी के कुंकुम चर्चित ललाट के समान शोभायमान हो रहा था। शीतल समीर मधु कंपन लिये मंद गति से बह रहा था। पक्षी कल-रव से दिन के देवता का स्वागत-गान गा रहे थे। स्नानादि से निवृत्त होकर प्रफुल्ल-वदना सुनंदा पुष्प-करंडक लिये भवन से अपनी पुष्प-वाटिका में आई। फव्वारे के समीप खड़े होकर उसने चारों ओर दृष्टिपात किया। चारों ओर सुगन्धित पुष्पों की क्यारियाँ थीं। वाटिका का वातावरण पुष्पों की महक से व्याप्त था। सौंदर्योपासिका सुनंदा सृष्टि सौंदर्य पर मुग्ध थी। वह मधुर भावों से अभिभूत हो गई। प्रसन्नता की लहरों पर उसका हृदय तरंगित हो रहा था। वह पुष्प-चयन करते हुए कोमल स्वरावलि से प्रभाती गुनगुनाने लगी।

जागो बंसी वारे ललना जागो मोरे प्यारे ॥
रजनी बीती भोर भयो है घर-घर खुले किवारे।
गोपी दही मथत सुनियत है कंगना के झनकारे ॥
माखन रोटी हाथ में लीनी गउवन के रखवारे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर तरण आयां कू तारे ॥

अब तक बालार्क की कोमल किरणों का सुनहरी जाल पृथ्वी पर फैल गया था। रम्य वाटिका में हल्की सुनहली धूप पड़ रही थी। पुष्प-चयन करने के बाद सुनंदा ने उच्च स्वर से पुकारा, 'सुधा, री सुधा!" फिर वह स्फटिकासन पर बैठ गई।

सुधा स्नान के पश्चात् शृंगार-गृह में दर्पण के सामने बैठ कर केश रचना कर रही थी। सुनंदा की आवाज सुन कर वह वहीं से उच्च स्वर में बोली, "आती हूँ।"

सुनंदा ने कहा, "सुई-धागा तो लेती आना।"

"लाती हूँ।" कह कर सुधा ने शीघ्रता पूर्वक शृंगार कार्य समाप्त किया। सुई धागा लेकर वह तेजी से सुनंदा के पास पहुँची। सुई धागा देकर उसने सुनंदा की ओर बड़े ध्यान से देखा, "दीदी, आज तुम बहुत ही प्रसन्न दिखाई दे रही हो। क्या बात है?" वह फूल सी हँसी हँस रही थी।

सुनंदा ने प्यार से सुधा को आलिंगन-पाश में लेकर उसके गुलाबी गाल का चुम्बन लिया, "मेरी प्यारी बहन, क्या तुम प्रसन्न नहीं हो?"

सुधा ने मुस्करा कर कहा, "मैं तो सदा ही प्रसन्न रहती हूँ, परन्तु तुम आज विशेष प्रसन्न दीखती हो। क्या मैं झूठ कहती हूँ?"

"नहीं, तुम झूठ नहीं कहती।"

सुधा ने सुनंदा की आँखों में देख कर कहा, "तो फिर कहो, क्या बात है?"

सुनंदा हँस पड़ी, "यूँही मन कभी-कभी प्रसन्न हो उठता है।"

"यूँही कह कर तुम बात को टाल रही हो, दीदी!"

"तुम तो पगली हो, सुधा! बात का बतंगड़ बनाती रहती

हो। लो, तुम भी पुष्पमाला बनाओ।" कह कर सुनंदा माला गूंथने लगी।

सुधा ने माला पिरोते हुए कहा, "दीदी, मैं सब जानती हूँ। आज शीलभद्र जी आने वाले हैं। है न यही बात ?"

सुनंदा हँस पड़ी, "सुधा, तुम बड़ी बातूनी हो गई हो।"

कुछ देर तक मौन रह कर सुधा ने कहा, "दीदी, शीलभद्र जी मेरे जीजाजी लगेंगे न ?"

"हाँ"

"और मैं उनकी क्या लगूँगी ?"

"साली !"

"साली तो गाली है, दीदी !"

सुनंदा खिलखिला कर हँस पड़ी, "तो फिर मैं क्या करूँ ? यह नाता ऐसा ही होता है। क्या तुम्हें किसी की साली बनना अच्छा नहीं लगता ?"

"नहीं," सुधा ने गंभीर होकर कहा, "पर मेरे न चाहने से बात तो बदल नहीं सकती। अब तो मुझे साली बनना ही पड़ेगा। अच्छा, साली ही सही !"

इसके बाद दोनों बहनें मौन रह कर माला पिरोने में व्यस्त हो गईं। मालाओं से निवृत्त होकर सुनंदा ने कहा, "चलो, अब चलें।"

दोनों बहनें पुष्पमालाएँ लेकर भवन में गईं। दिन का प्रथम प्रहर बीतने से कुछ पहले शीलभद्र अश्वारूढ़ होकर सुनंदा के भवन-प्रांगण में पहुँच गया। सेवक ने घोड़े की लगाम पकड़ ली। शीलभद्र घोड़े से उतर कर भवन की ओर बढ़ा। सेनापति इन्द्र-सेन बरामदे में बैठे हुए थे। शीलभद्र को देखा, तो उठ कर वह आगे बढ़े और अभिवादन कर उन्होंने शीलभद्र का प्रेमपूर्ण

स्वागत किया।

सुधा ने शीलभद्र को देखा तो तेजी से संगीत-कक्ष में सुनंदा के पास पहुँची, "दीदी, वह आ गये।"

सुनंदा उस समय संगीत-कक्ष में दीवार पर अपने चित्र के साथ टंगे हुए शीलभद्र के चित्र को पुष्पमाला पहना रही थी। "वह आ गये!"—सुनते ही वह शीघ्रता पूर्वक बाहर बरामदे में पहुँची। पिता के सन्मुख कुछ लज्जित होकर सुनंदा ने शीलभद्र को विनीत भाव से अभिवादन किया। सेनापति इन्द्रसेन शील-भद्र को अतिथि-गृह में ले गये और वहाँ उससे वार्त्तालाप करने लगे।

कुछ समय के पश्चात् सुधा ने आकर सूचना दी, "भोजन तैयार है।"

इन्द्रसेन और शीलभद्र भोजन-गृह में गये। सुनंदा ने अपने हाथ से भोजन परोसा। भोजन से निवृत्त होकर शीलभद्र अतिथि-गृह में आकर बैठा। थोड़ी देर के बाद सेनापति की वेश-भूषा में सुसज्जित होकर इन्द्रसेन वहाँ आये। आसन पर बैठ कर उन्होंने शीलभद्र को बड़े ध्यान से देखा और फिर गंभीर स्वर में कहा "आपको मैंने विशेष उद्देश्य से आमंत्रित किया था। इससे पहले ही मैं आपसे मिलना चाहता था, परन्तु आप परीक्षा में उलझे हुए थे। मैं प्रसन्न हूँ कि आप परीक्षोत्तीर्ण हुए। आप और सुनंदा गुरुदेव के अन्तिम दो शिष्य हैं और वर्षों से एक दूसरे के सम्पर्क में रह रहे हैं। आप एक दूसरे से भली भाँति परिचित हैं। राज-परिवार मुझ पर जोर दे रहा था कि मैं सुनंदा का विवाह-सम्बन्ध युवराज से करूँ, परन्तु सुनंदा का झुकाव आप की ओर है और उसकी इच्छानुसार कार्य करना मेरा कर्तव्य है। इसलिये मैंने यह उचित समझा कि सुनंदा का हाथ विधिपूर्वक

आपके हाथ में देकर मैं पितृ-कर्तव्य से मुक्त हो जाऊँ। सुनंदा का पाणि-ग्रहण कर उसको और मुझे आप अनुगृहीत करें, यह अनुरोध करने के लिये ही मैंने आपको यहां आने का कष्ट दिया है।"

शीलभद्र विनय पूर्वक बोला, "आप का अनुरोध मेरे लिये आज्ञा के समान है और आप की आज्ञा शिरोधार्य है।"

"धन्यवाद! सुनंदा को सेवा में स्वीकार कर आपने मुझे अनुगृहीत किया है। मैं चाहता हूँ कि यह कार्य शीघ्रातिशीघ्र हो जाय। अच्छा हो, यदि हम विवाह की तिथि आज ही निश्चित कर लें।

"तिथि का निश्चय करने से पूर्व मुझे माताजी और गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त करनी होगी। तिथि का निर्णय उनके विचारानुसार होगा। मेरे तिथि निश्चित करने से बड़ों का अनादर होगा। मैं आशा करता हूँ कि आप मेरा अभिप्राय समझ गये होंगे।"

इन्द्रसेन प्रसन्नता पूर्वक बोले, "मैं प्रसन्न हूँ कि आप बड़ों के प्रति विनयशील हैं। आप केवल उच्चकोटि के कलाकार ही नहीं, नीतिज्ञ भी हैं। आप माताजी से विचार विमर्ष कर मुझे शीघ्र ही निश्चित तिथि सूचित करें। आप जो भी तिथि पसन्द करें, मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी।"

"जो आज्ञा!" शीलभद्र ने विनीत भाव से कहा।

"तो अब मैं जाऊँगा।" इन्द्रसेन उठते हुए बोले, "मेरा समय हो गया है। युवराज की वर्षगांठ का दिन आ रहा है। आप तो जानते ही हैं कि उस दिन सैनिक अभिवादन और प्रदर्शन का विशेष कार्यक्रम होता है। हाँ, क्या आप इस वर्ष घुड़दौड़ की प्रतियोगिता में भाग लेंगे?"

"अवश्य लूँगा।"

"अवश्य लीजिये। गत वर्ष विजय माला आप के गले में पड़ी थी। इस वर्ष भी मैं आपकी सफलता चाहता हूँ।" इतना कह कर इन्द्रसेन ने आवाज दी, "सुनंदा!"

सुनंदा द्वार की आड़ में खड़ी होकर दोनों का वार्तालाप ध्यान से सुन रही थी। उस का अंग-अंग पुलक से भर गया था। पिता की आवाज सुन कर वह चौंकी, पर शीघ्र ही प्रकृतिस्थ होकर वह भीतर चली आई।

"सुनंदा," इन्द्रसेन ने कहा, "मैं जा रहा हूँ। अब इनके आतिथ्य का भार तुम पर है।" इतना कह कर शीलभद्र से अभिवादन के आदान-प्रदान के पश्चात् वह चले गये।

सुनंदा को घर में अभी तक शीलभद्र से खुले मन से वार्तालाप का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। एकान्त मिला, तो दोनों ने एक दूसरे की ओर मुग्ध दृष्टि से देखा और दोनों मुस्करा उठे।

शीलभद्र ने कहा, "पिताजी तो विवाह की तिथि निश्चित करना चाहते हैं।"

"मैंने सब सुन लिया। मैं द्वार की आड़ में खड़ी थी।" सुनंदा ने मधुर हँसी हँस कर कहा, "चलो, उधर संगीत-कक्ष में बैठें।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा!" कह कर शीलभद्र सुनंदा के साथ संगीत-कक्ष में गया। संगीत-कक्ष विशेष रूप से सजाया गया था। विभिन्न प्रकार के वाद्य यथास्थान आकर्षक ढंग से रखे हुए थे। दीवार पर सुनंदा के चित्र के साथ अपने चित्र को पुष्पमाला-मंडित देख कर शीलभद्र मुस्करा कर बोला, "जड़ को पुष्पमाला और चेतन को एक पुष्प भी नहीं।"

पहले से ही व्यवस्थित रूप से रखी हुई पुष्पमाला लेकर शीलभद्र को पहनाते हुए सुनंदा ने कहा, "जो जड़ का सन्मान

करती है, वह चेतन का सन्मान करना भी जानती है।"

"धन्यवाद !" कह कर शीलभद्र ने माला गले से निकाल कर हाथ में ले ली, "तुमने मुझे माला पहनाई, मुझे भी तुमको पहनानी चाहिये।" इतना कह कर उसने वह माला सुनंदा के गले में डाल दी।

सुनंदा ने माला गले से निकाल कर शीलभद्र को दे दी। उसके बाद सुनंदा ने अपनी उंगली से मुद्रिका निकाल कर शीलभद्र के उंगली में पहिना दी और शीलभद्र ने अपनी मुद्रिका सुनंदा की उंगली में पहिना दी।

दोनों के अंग जीवन में पहली बार एक दूसरे के मादक तथा मधुर स्पर्श से पुलकायमान हो गये।

शीलभद्र दूध सी धवल चादर बिछी हुई गादी पर तकिए का सहारा लेकर बैठ गया। प्रसन्न स्वर में बोला, "हम दो थे और आज एक हो गये।"

शीलभद्र से कुछ अंतर पर बैठ कर सुनंदा आनन्द और उल्लास में विभोर होकर बोली, "अब तुम मेरे हो और मैं तुम्हारी हूँ। शीलभद्र, आज मेरा हृदय बहुत ही प्रसन्न है। ऐसा लगता है, मेरा संसार हरा-भरा और भरा-पूरा है। आज जीवन में कोई अभाव नहीं है, कोई बाधा नहीं है। जीवन में जो कुछ वांच्छनीय है. मुझे प्राप्त है। आज मैं सुखी हूँ, भाग्यशालिनी हूँ।"

"मैं भी ऐसा ही अनुभव कर रहा हूँ।" फिर कुछ रुक कर शीलभद्र ने सितार की ओर संकेत कर कहा, "वह सितार तो दो।"

सितार देकर सुनंदा ने कहा, "कला के क्षेत्र में तुम्हारी प्रतिभा भी गुरुदेव के समान बहुमुखी है। जैसे गुरु वैसे शिष्य। मैं तो गुरुदेव की कई बातें तुममें भी ज्यों की त्यों देखती हूँ।"

"गुरुदेव बहुत ही महान् हैं।" उंगली में मिजराब पहन कर

सितार के तारों को छेड़ कर उनमें स्वरैक्य स्थापित करते हुए शीलभद्र ने गंभीर स्वर में कहा, "मैं उनकी चरण-रज की भी बराबरी नहीं कर सकता। वह एक लोकोत्तर पुरुष हैं।"

"और तुम सही अर्थ में उनके शिष्य हो।"

"और क्या तुम उनकी शिष्या नहीं हो ?"

सुनंदा गंभीर हो गई, "मैं तो बहुत ही साधारण हूँ। मेरा मन मुझसे कहता रहता है कि तुम उनकी शिष्या बनने के योग्य नहीं हो।"

शीलभद्र ने सुनंदा की ओर मुग्ध दृष्टि से देखते हुए हँस कर कहा, "विद्या से विनय आती है और विनय से विद्या आती है।" इतना कह कर शीलभद्र ने सितार पर मधुर गत बजाना प्रारंभ किया।

सुनंदा का हृदय यौवन के उल्लास की उमंग में डोल उठा और उसके पैर थिरक उठे। वह उठी। शीलभद्र की आँखों में आँखें डाल कर वह बिना घुँघरु के ही नृत्याभिनय की मुद्रा में खड़ी हो गई और फिर सितार की लय में नृत्य करने लगी। दोनों तल्लीन हो गये—एक दूसरे पर निछावर हो गये।

कुछ देर के बाद वादन समाप्त कर सितार को एक ओर रखते हुए शीलभद्र ने मुस्करा कर कहा, "आज का दिन जीवन में सदा स्मरणीय बना रहेगा। अच्छा, अब मैं जाऊँगा।"

सुनंदा ने प्यार से कहा, "मुझे तुमसे कुछ विचार-विमर्ष करना है।"

"किस बात पर ?"

सुनंदा ने गँभीर होकर कहा, "मैं मीरा का जन्मोत्सव मनाना चाहती हूँ। इससे गुरूदेव को प्रसन्नता होगी। उनकी मीरा के प्रति जो श्रद्धा है, उसीसे मुझे यह उत्सव मनाने की प्रेरणा हुई।

तुम्हारा क्या विचार है ?"

"बड़ी अच्छी बात है।"

"तुम्हें मेरी सहायता करनी पड़ेगी।"

"सेवक सेवा में उपस्थित है।" शीलभद्र हँस पड़ा, "जो कुछ कहोगी, करूँगा। किस दिन है मीरा जयंती ?"

"आज सोमवार है, आगामी सोमवार को होगी। एक सप्ताह की अवधि है।"

उसी समय सुधा ने संगीत-कक्ष के द्वार में पहुँच कर कहा, "दीदी, माताजी कहती हैं, पहले भोजन कर लो, फिर बैठो।"

शीलभद्र ने कहा, "जाओ, तुम भोजन कर लो और मैं भी जाता हूँ। उत्सव के सम्बन्ध में कला-मंदिर में विचार करेंगे।"

"मैं भोजन कर शीघ्र ही कला-मन्दिर आऊंगी। गुरुदेव के फलाहार का समय हो रहा है।"

"अच्छा !" कह कर शीलभद्र उठ खड़ा हुआ और सुनंदा के साथ प्रांगण में आया। सेवक घोड़ा ले आया। सुनंदा ने शीलभद्र को प्रेमपूर्वक अभिवादन किया। घोड़े पर सवार होकर शीलभद्र ने अभिवादन का उत्तर दिया और फिर घोड़े को दौड़ाया।

नवाँ परिच्छेद

सुनंदा ने शीलभद्र की सहायता से मीरा जयन्तिउत्सव का आयोजन किया। सूर्यास्त के समय सुनंदा का विशेष रूप से सजाया गया भवन सैकड़ों दीप-ज्योतियों के अलोक से आलोकित हो उठा और द्वार पर शहनाई की मधुर ध्वनि गुंजायमान होने लगी। नगर की स्त्रियों की भारी भीड़ भवन के पृष्ठ भाग में बनाये गये पट-निर्मित सभा-मण्डप में एकत्रित होने लगी। द्वार पर सुनंदा की माता आगत स्त्रियों का स्वागत कर रही थी। यह समारोह केवल स्त्री समाज के लिये था।

सभा-मण्डप के एक छोर पर एक कला पूर्ण रंग-भूमि बनाई गई थी। रंगभूमि की दाहिनी ओर अलंकृत उच्चासन पर भगवान कृष्ण की मनोहारी मूर्त्ति रखी हुई थी और मूर्त्ति के चरणों के नीचे कुछ सामने की ओर शीलभद्र द्वारा बनाया गया मीराबाई का चित्र आकर्षक ढंग से रखा हुआ था। दीप-ज्योतियों के प्रखर प्रकाश में सुन्दर सजावट के कारण मीरा का चित्र बहुत ही भाव-पूर्ण लग रहा था। रंगभूमि के वाम पार्श्व में एक व्याघ्र-चर्माच्छादित आसन रिक्त पड़ा था। रंगभूमि के निकट सामने राज परिवार की स्त्रियों के बैठने की विशेष व्यवस्था की गई थी। उन के पीछे गण्यमान्य परिवारों की स्त्रियों के लिये और अन्त में साधारण स्त्री समाज के लिये स्थान नियत था। रंगभूमि और

सभा मण्डप में स्थान-स्थान पर गीता के महत्वपूर्ण श्लोक और मीरा की मर्मस्पर्शी वाणी के कुछ चरण सुन्दर अक्षरों में लिख कर लगाये गये थे। सभा मण्डप प्रकाश से जगमगा रहा था।

रंगभूमि का शृंगार कार्य शीलभद्र ने स्वयं किया था। वह आज दिन भर यहाँ कार्य-व्यस्त रहा। सूर्यास्त होते ही सजावट का काम समाप्त कर शीलभद्र ने सुनंदा से कहा, "अब मैं कला मंदिर जाता हूँ। गाड़ी तैयार है न ?"

"हाँ," सुनंदा ने कृतज्ञता पूर्वक कहा, "गुरुदेव को लेकर शीघ्र ही आ जाओ। अधिक जागरण उनके लिये ठीक नहीं है। उनका स्वास्थ्य बहुत ही नाजुक है। आज प्रातःकाल के समय वह कुछ अस्वस्थ थे।

"मैं शीघ्र ही आऊँगा।" यह कह कर शीलभद्र गाड़ी में बैठ कर कला-मंदिर चला गया।

थोड़े समय के पश्चात् सभा-मण्डप स्त्रियों से खचाखच भर गया। रानी जयमाला के साथ राज-परिवार की स्त्रियाँ भी पहुँच गईं और नियत स्थान पर बैठ गईं। मीरा के चित्र ने सभी का ध्यान आकर्षित किया।

सुनंदा ने रंगभूमि के दोनों ओर दो बड़े धूप-दान ला कर रख दिये। सुगन्धित धूप से रंगभूमि का वातावरण व्याप्त हो गया। कार्यक्रम प्रारंभ न होने से स्त्रियों में कोलाहल हो रहा था। कुछ देर के बाद प्रहरी ने उच्चस्वर से घोषित किया, "गुरुदेव महामहिम आचार्य महानंद पधारे हैं।"

सेनापति और सुनंदा ने शीघ्रता पूर्वक द्वार पर पहुँच कर आचार्य का स्वागत किया। नैपथ्य से आचार्य सुनंदा के साथ रंगभूमि पर आये। आचार्य के सम्मान में सभी स्त्रियाँ उठ खड़ी हुईं। सुनंदा के संकेत से आचार्य व्याघ्र-चर्माच्छादित आसन पर विराज

मान हुए। सभी स्त्रियाँ पूर्ववत् बैठ गईं। रंगभूमि के दक्षिण नैपथ्य में शीलभद्र की माता, सुशीला, सुनंदा की माता और उसकी दो तीन सहेलियाँ बैठी थीं। वाम नैपथ्य में सेनापति, चन्द्रकान्त और शीलभद्र बैठे थे। शीलभद्र मृदंग लिये बैठा था, और उस के निकट दुलहन सी सजी सुधा हाथ में करताल लिये खड़ी थी।

सुनंदा ने आचार्य को पुष्पमाला पहिना कर प्रणाम किया और उनकी आज्ञा से कार्यक्रम प्रारंभ किया। वह वीणा लेकर बैठ गई और वीणा पर श्याम कल्याण राग की मधुर धुन बजाने लगी। नैपथ्य में शीलभद्र मृदंग बजाने लगा। धुन समाप्त होते ही उसने नैपथ्य में खड़ी सुधा को संकेत किया और सुधा ने वीणा के स्वर में स्वर मिला कर मीरा का भजन 'हरी तुम हरो जन की भीर' श्याम कल्याण राग में साभिनय गाते हुए रंगभूमि में प्रवेश किया। वह एक हाथ से करताल बजा रही थी। सुधा का स्वर तथा अभिनय सुधा सा ही मधुर था। जब वह कृष्ण की मूर्त्ति के सन्मुख कर-बद्ध तथा नतमस्तक हो भजन का अन्तिम चरण 'दासी मीरा लाल गिरधर, चरन कमल पर सीर' गाते हुए धीरे-धीरे पीछे की ओर जाते हुए नैपथ्य में चली गई, तो सभी स्त्रियों ने हर्ष-ध्वनि तथा करतल-ध्वनि की।

जब वीणा को एक ओर रख कर सुनंदा सामने आकर खड़ी हो गई, तो कोलाहल शांत हो गया। सुनंदा ने सभा को संबोधित करते हुए कहा, "माताओ तथा बहिनों, मुझे लगभग सात वर्षों से गुरुदेव के चरणों में बैठ कर कला-साधना करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन्होंने मुझे सब राग-रागिनियों की शिक्षा मीराबाई के भजनों में ही दी है और विभिन्न प्रकार की नृत्यकला भी मीराबाई के विभिन्न भावों के माध्यम से सिखाई है। गुरुदेव

की मीराबाई के प्रति प्रगाढ श्रद्धा से ही मुझे मीराबाई का जन्मोत्सव मनाने की प्रेरणा मिली। गुरुदेव सार्वजनिक उत्सवों में कभी कुछ बोलते नहीं हैं, परन्तु मेरे विशेष आग्रह से उन्होंने आज मीरा के जीवन पर कुछ बोलना स्वीकार किया था, परन्तु आज प्रातःकाल से ही वह कुछ अस्वस्थ हैं और इसलिये मैं उन्हें बोलने का कष्ट देना उचित नहीं समझती।

"भारतीय नारी समाज में मीराबाई का एक विशिष्ट स्थान है। वह उच्च कोटि की भक्त थी, परन्तु उसकी भक्ति क्रान्तिकारिणी थी। पति से पृथक् स्त्री का अस्तित्व तथा व्यक्तित्व हमारे समाज को स्वीकार नहीं है। आज भी मृत पति की चिता में जल मरने की सती प्रथा विद्यमान है। ऐसे समय में लौकिक पति को पति न मान कर भक्त तथा क्रान्ति कारिणी मीरा ने उच्च स्वर से घोषणा की—

ऐसे बर को को वरै जो जनमे मरि जाय।
बर बरौं मैं सांवरो जी, चूड्‌ल अमर व्है जाय॥

और फिर 'जाके सिर मोर मुकट मेरो पति सोई' कह कर मीरा ने गिरधर गोपाल से प्रेम का नाता जोड़ा। मीरा आध्यात्मिक दृष्टि से स्त्री-स्वातंत्र्य का—स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व तथा व्यक्तित्व का क्रियात्मक रूप से सफलता पूर्वक समर्थन करनेवाली सर्वप्रथम महान् भारतीय महिला थी। मीरा के निर्धारित मार्ग में कठिनाइयों की कमी नहीं थी, परन्तु मीरा सब कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर गन्तव्य दिशा की ओर आगे ही आगे बढ़ती रही और अंत में अपने अलौकिक पति गिरधर गोपाल में लीन हो गई। मैं महान् मीरा को प्रणाम करती हूँ।" इतना कह कर सुनंदा ने मीरा के चित्र को नतमस्तक होकर प्रणाम किया।

यहाँ कुछ स्त्रियों ने करतल-ध्वनि की।

सुनंदा ने आचार्य के हाथों में वीणा देकर स्त्री-समुदाय की ओर देख कर कहा, "गिरधर गोपाल के—अपने अलौकिक पति के वियोग में मीरा की विरह वेदना इतनी अधिक बढ़ गई थी कि वह उसके सुकोमल सीमित शरीर में समा न सकी और शरीर-रन्ध्रों से फूट कर वह वेदना राज-महल के कोने-कोने में व्याप्त हो गई। फिर वह वेदना विशाल राज-महल में भी समा न सकी और राज-महल की दीवारों को तोड़-फोड़ कर दिग्-दिगन्त में व्याप्त हो गई। उसकी वेदना जब उसकी वाणी में उतरी तो वाणी भी वेदनामय हो गई। मीरा के विरह-गीत वाणी की वेदना नहीं है, प्रत्युत वेदना की वाणी है। विरह-व्याकुला मीरा ने गाया—"इतना कह कर सुनंदा ने शीघ्रता पूर्वक साड़ी का आँचल सिर से उतार कर कंधे पर पड़ा रहने दिया और सिर के बंधे हुए केश खोल दिये। केवल इतने ही परिवर्तन से भावाभिनय के कारण सुनंदा विरहिणी सी लगने लगी। आचार्य ने वीणा और शीलभद्र ने मृदंग बजाना प्रारंभ किया और सुनंदा करुण स्वर में साभिनय गाने लगी—

घर आँगण न सुहावे
पिया बिन मोहि न भावे ॥
दीपक जोय कहा करूँ सजनी !
पिय परदेश रहावे ॥
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागे,
सिसक-सिसक जिय जावे ॥
नैण निंदरा नहीं आवे ॥
कब की उभी मैं मग जोऊँ
निसिदिन विरह सतावे।
कहा कहूँ कछु कहत न आवे

हिवड़ो अति उकलावे ॥
हरि कब दरस दिखावे ॥
ऐसो है कोई परम सनेही
तुरत सनेसो लावे ।
वा बिरियाँ कद होसी मुझको
हरि हँस कँठ लगावे ॥
मीरा मिलि होरी गावे ॥

गीत गाते हुए ही सुनंदा नैपथ्य में चली गई। उपस्थित स्त्री समुदाय ने प्रसन्नता पूर्वक तालियाँ बजाई।

समुदाय के सामने कला-प्रदर्शन करने का सुनंदा के जीवन में यह प्रथम अवसर था। और उसने कला-प्रदर्शन में कोई कसर नहीं रखी।

आचार्य का हृदय अत्यधिक भावुक था। वह वीणा बजाते हुए भाव-तन्मय होकर गीत सुन रहे थे। उनका हृदय भर आया था और आँखों में आँसू छल-छला आये। वह अपने उत्तरीय के छोर से आँखें पोंछने लगे। शीलभद्र तो सुनंदा की कला पर मंत्र मुग्ध-सा हो गया।

नैपथ्य में जाकर सुनंदा ने शीघ्रता पूर्वक पैरों में घुँघरू बाँधे। आचार्य ने वीणा और शीलभद्र ने मृदंग बजाना फिर प्रारंभ किया सुनंदा ने मीरा का गीत—

मैं तो साँवरे के रंग राची।
साजि सिंगार बाँधि पग घुंघरु लोक लाज तजि नाची ॥

प्रसन्नता पूर्वक गाते तथा नृत्य करते हुए रंगभूमि पर प्रवेश किया। सबकी आँखें सुनंदा की ओर आकर्षित हो गईं। दर्शक समुदाय मंत्र-मुग्ध सा हो गया। श्रृंगार रस का उच्चकोटि का भावाभिनय करते हुए भी भाव-भंगिमा में भक्तिभाव की प्रधानता थी,

पवित्रता थी। और यही उसके नृत्य की विशेषता थी। जब नृत्य करते हुए ही सुनंदा नैपथ्य में चली गई, तो सभी ने हर्ष ध्वनि के साथ तालियाँ बजा कर उसकी प्रशंसा की।

आचार्य ने वीणा एक ओर रख दी और उत्तरीय से अपने आनंदाश्रु पोंछने लगे।

पैर में बंधे घुंघरू उतार कर सुनंदा शीघ्र ही रंगभूमि पर आई। स्त्री-समुदाय ने फिर करतल-ध्वनि की। सुनंदा ने हाथ जोड़ नत-मस्तक हो समुदाय को प्रणाम किया। फिर सुनंदा ने आचार्य को तिलक लगाया और उन्हें एक रजत-थाल, जिसमें कुछ रेशमी वस्त्र, नारियल और स्वर्ण मुद्राएं थीं, भेंट किया। आचार्य को प्रणाम कर उसने स्त्री-समुदाय की ओर देखा, "अब केवल मेरी छोटी बहिन सुधा का आरती-नृत्य होगा और उस के बाद प्रसाद-वितरण होकर कार्यक्रम समाप्त होगा। आप सभी ने उत्सव में सम्मिलित होकर मुझे अनुगृहीत किया है और मैं आप के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।" इतना कह कर सुनंदा आचार्य के समीप पड़ी हुई वीणा ले कर बैठ ही रही थी कि रानी जयमाला ने संकेत से सुनंदा को अपने पास बुलाया। सुनंदा मुस्कराती हुई रानी के पास पहुँची। रानी ने सुनंदा के कान में कुछ कहा। फिर सुनंदा ने आचार्य के निकट जाकर उनसे कुछ कहा। आचार्य के मुख पर मंद मुस्कराहट दौड़ गई। फिर सुनंदा स्त्री-समुदाय की ओर देख कर बोली, "माताओ और बहनो, माननीया रानी साहिबा पूज्य गुरुदेव से मीरा के जीवन से संबंधित एक प्रश्न पूछ कर अपनी शंका-समाधान कराना चाहती है, और गुरुदेव ने उनका शंका-समाधान करना स्वीकार किया है। तो आप से प्रार्थना है कि आप प्रश्नोत्तर को शान्ति तथा ध्यान पूर्वक सुनिये। मैं माननीया रानी साहिबा से प्रार्थना

करती हूँ कि वह अपना प्रश्न उपस्थित करें।" यह कह कर सुनंदा बैठ गई।

रानी जयमाला उठ खड़ी हुई और आचार्य की ओर देख कर गंभीर स्वर में बोली, "नारी के लिये पतिव्रता धर्म ही धर्म ग्रंथों में सर्वोपरि बताया गया है। गीता में कहा है कि लौकिक धर्म का निष्काम भाव से पालन करने से मोक्ष प्राप्त हो सकता है। क्या मीरा ने लौकिक नारी-धर्म की उपेक्षा नहीं की? मीरा की अलौकिक विरह-वेदना से मैं भी समवेदना प्रकट करती हूँ, परन्तु क्या मीरा ने अपने पति राणा के साथ अन्याय नहीं किया? और क्या मीरा ने नारी-धर्म को विकृत रूप में उपस्थित करने का अपराध नहीं किया?" इतना कह कर रानी जयमाला बैठ गई।

आचार्य ने मुस्करा कर रानी जयमाला की ओर बड़े ध्यान से देखा और फिर गंभीरता पूर्वक कहा, "निस्सन्देह मीरा ने लौकिक धर्म की उपेक्षा कर अपने पति राणा के साथ अन्याय किया है, परन्तु लौकिक धर्म से श्रेष्ठ अलौकिक धर्म का पालन करके मीरा ने अपने जीवन के साथ पूर्णतया न्याय किया है। और जो अपने जीवन के साथ पूर्णतया न्याय करता है, उसके लौकिक दृष्टि से तथाकथित अन्यायपूर्ण कार्य अलौकिक अर्थात् पारलौकिक दृष्टि से न्यायपूर्ण बन जाते हैं। जीवन का प्रमुख उद्देश्य अपने जीवन के प्रति न्याय करना—आत्मोद्धार करना है। यदि लौकिक धर्म पारलौकिक धर्म में बाधा उपस्थित करता है, तो उस अवस्था में मनुष्य पारलौकिक धर्म की रक्षार्थ लौकिक धर्म की उपेक्षा कर सकता है, उसको ठुकरा सकता है।

"भरत ने माता कैकयी को अपमानित किया। प्रह्लाद ने पिता हिरण्यकश्यपु की आज्ञा मानना अस्वीकार कर दिया। विभीषण

ने बड़े भाई रावण का साथ छोड़ दिया। लक्ष्मण माता-पिता की सेवा से मुँह मोड़ कर राम के साथ वन में चला गया। अर्जुन ने द्रोणाचार्य तथा भीष्म पितामह जैसे पूजनीय गुरुजनों से युद्ध किया। भीष्म पितामह ने अपने गुरु परशुराम की आज्ञा न मान कर उनसे युद्ध किया। इन सब के कार्य लौकिक धर्म के विरुद्ध थे, परन्तु वे सब आदर्श भक्त माने गये—क्यों? इस लिये कि उन्होंने लौकिक धर्म से श्रेष्ठ आत्म-धर्म, पारलौकिक धर्म अथवा सार्वभौम धर्म की रक्षा के लिये ही लौकिक धर्म की उपेक्षा की थी। उच्चकोटि के धर्म की रक्षार्थ निम्न कोटि के धर्म का परित्याग करना धर्मोचित है, न्यायोचित है। क्या आप मेरी बात को समझ रही हैं?"

"हाँ, गुरुदेव!" रानी जयमाला सतर्क तथा सचेत हो कर आचार्य का व्याख्यान सुन रही थी। वह उठ कर बोली, "भरत, लक्ष्मण, प्रह्लाद, अर्जुन, विभीषण और भीष्म पितामह के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि लौकिक धर्म उनकी आत्म-प्रगति में बाधक बना था, परन्तु मीरा के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। मीरा के पति राणा शांत वृत्ति के सज्जन पुरुष थे। यदि मीरा लौकिक धर्म का पालन करती हुई राज-महल में ही गिरिधर गोपाल की भक्ति करती रहतीं, तो राणा मीरा की भक्ति में कदापि बाधा उपस्थित न करते। ऐसा करने से मीरा के लौकिक तथा पारलौकिक धर्म में सामंजस्य स्थापित हो जाता।"

आचार्य मुस्करा कर अपनी लम्बी श्वेत दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए बोले, "आपकी शंका में मानव स्वभाव के सूक्ष्म अध्ययन का अभाव है। क्या लक्ष्मण अयोध्या में रह कर भरत के समान राम-भक्ति नहीं कर सकता था? यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है—मानसिक अवस्था का प्रश्न है। ज्ञानी-अज्ञानी सब अपनी

प्रकृति के अनुसार कार्य करते हैं। प्रकृति स्वभाव को कहते हैं। स्वभाव संस्काराधीन होता है। प्रत्येक के संस्कार दूसरे से भिन्न होते हैं और इसके फल-स्वरूप एक का स्वभाव दूसरे से भिन्न होता है। मानव में आत्म-शक्ति की विचित्रता पाई जाती है। सब से एक ही विचार-प्रणाली की आशा करना मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में अनभिज्ञता प्रकट करना है। मीरा को समझने के लिये मीरा की मनःस्थिति के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की सहायता की आवश्यकता है। मीरा के स्वभाव की हत्या करके मीरा को नहीं समझा जा सकता। क्या आप समझ रही हैं ?"

"समझ रही हूँ।"

"लौकिक दृष्टि से मीरा का राणा के प्रति जो अन्याय प्रतीत होता है, अब उसका कारण सुनिये। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नारी के लिये पुरुष बड़ा है, श्रद्धेय है। नारी-हृदय पुरुष की महत्ता को स्वीकार करता है और उसकी सेवा में स्वाभाविक सुख अनुभव करता है। इसीलिये नारी पुरुष के निकट आत्म-समर्पण करती है। नारी-हृदय की स्वाभाविक प्रेरणानुसार मीरा गिरिधर गोपाल को पति रूप में चाहती और पति रूप में ही भजती थी।

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरत तिन देखी तैसी॥

"भक्त के भावानुसार ही उसका भगवान् होता है। यदि मीरा लौकिक पति को पति मानती और फिर गिरिधर गोपाल को भी पतिरूप में चाहती, तो वह दो पतियों की पत्नी हो जाती और उसकी भक्ति व्यभिचारिणी हो जाती। व्यभिचारिणी की भक्ति निष्फल होती है। क्या आप समझ रही हैं ?"

"हाँ, गुरुदेव !"

आचार्य शांत स्वर में बोले, "यही कारण है कि मीरा लौकिक पति को पति तो क्या, पुरुष भी नहीं मानती थी।

उत्तम के अस बस मन माँही।
सपनेहु आन पुरुष जग नाही ॥

उच्चकोटि की पतिव्रता जागृतावस्था में ही नहीं, स्वप्नावस्था में भी संसार भर में पति के सिवा किसी अन्य पुरुष के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। मीरा ऐसी ही उच्चकोटि की आदर्श अलौकिक पतिव्रता थी। गिरिधर गोपाल ही मीरा के लिये एक मात्र पुरुष था और वह उसका पति था। अन्य सब लौकिक पुरुष उसके लिये नारी-मात्र थे। चैतन्य महाप्रभु के शिष्य जीव गोस्वामी ने वृन्दावन में मीरा से मिलना इसलिये अस्वीकार कर दिया कि वह किसी स्त्री से वार्तालाप करना उचित नहीं समझते थे। मीरा ने कहा, "वृन्दावन में एक मात्र पुरुष कृष्ण है। अब विदित हुआ कि आप भी पुरुष प्रकट हुए हैं।" ऐसी भावापन्न अवस्था में मीरा लौकिक पति राणा के साथ लौकिक दृष्टि से न्याय का व्यवहार कैसे कर सकती थी? उस न्याय का अर्थ मीरा के लिये व्यभिचार मात्र होता। मीरा की भक्ति अव्यभिचारिणी थी। मीरा के अन्त-स्तल की मौलिक भावना को समझे बिना मीरा समझ में नहीं आ सकती। क्या अब भी कोई शंका है?"

रानी जयमाला आचार्य की प्रखर प्रतिभा से प्रभावान्वित हो गई। वह कृतज्ञता पूर्वक बोली, "गुरुदेव, मेरी शंका-समाधान हो गई। मीरा असाधारण थी, अलौकिक थी, महान् थी।"

'हाँ, मीरा महान् थी।" यह कह कर आचार्य आँखें बंद कर मौन हो गये।

सुनंदा उठ कर बोली, "मीरा के जन्मोत्सव में मीरा के जीवन पर विवेचनात्मक व्याख्यान न होना एक खटकने

वाली बात थी, परन्तु माननीया रानी साहिबा ने गुरुदेव से प्रश्न पूछ कर इस अभाव की पूर्ति कर दी । उनके समयानुकूल प्रश्न से हम सब को गुरुदेव की अमृतवाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसलिये मैं माननीया रानी साहिबा को हार्दिक धन्यवाद देती हूँ।" इतना कह कर सुनंदा बैठ गई और नेपथ्य में खड़ी सुधा को संकेत कर उसने वीणा-वादन प्रारंभ किया। शीलभद्र ने मृदंग संभाला। सुधा ने दाहिने हाथ में पंचारती लेकर नृत्य करते हुए रंगभूमि पर प्रवेश किया और भगवान कृष्ण की मूर्त्ति की ओर मुख कर कलात्मक ढंग से आरती उतारने लगी। नृत्य करते हुए ही उसने आरती भगवान् के सम्मुख रख दी और हाथ जोड़ कर नत मस्तक हो धीरे-धीरे पीछे की ओर होती हुई नेपथ्य में चली गई। स्त्री-समुदाय ने सहर्ष तालियाँ बजाईं। प्रसाद-वितरण के पश्चात् उत्सव का कार्यक्रम समाप्त हुआ।

दसवाँ परिच्छेद

युवराज राजेन्द्रसिंह की चौबीसवीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में आयोजित उत्सव के फलस्वरूप राजप्रासाद के बाहर-भीतर आज दिन भर आनन्द और उल्लास का वातावरण रहा। प्रातःकाल राजप्रासाद के सामने विशाल मैदान में नियत स्थान पर युवराज के हाथों झंडा लहराया गया और उसको सैनिक वाद्य के साथ सैनिक अभिवादन दिया गया। फिर सेनापति इन्द्रसेन के संचालकत्व में सेना के विभिन्न प्रकार के प्रदर्शन हुए। दिन का तीसरा प्रहर बीत जाने पर प्रतिवर्ष की तरह घुड़दौड़ की प्रतियोगिता हुई और उसमें शीलभद्र सर्वप्रथम आकर विजयी हुआ। सेनापति इन्द्रसेन के साथ सुनंदा वहाँ उपस्थित थी। शीलभद्र की विजय से वह फूली न समाई। सायंकाल राजप्रासाद के अन्तःपुर में रानी जयमाला के आग्रह से सुनंदा का संगीत-नृत्य का कार्यक्रम हुआ। इस प्रकार शीलभद्र और सुनंदा दोनों का वह दिन चहल-पहल में बीता।

रात्रि को राजप्रासाद सहस्त्रों दीप-ज्योतियों के आलोक से जगमगा उठा। राजप्रासाद के विशाल सभा-भवन में महाराजा योगेन्द्रसिंह राजसिंहासन पर विराजमान थे। उनके पास वामपार्श्व में एक उच्चासन रिक्त पड़ा था, जिस पर व्याघ्रचर्म बिछा हुआ

था। और दक्षिण ओर एक पृथक् सिंहासन पर युवराज राजेन्द्रसिंह बैठा हुआ था। फिर निम्न स्थान में बाईं ओर सेनापति, मन्त्रीगण तथा उच्च राज-कर्मचारी बैठे हुए थे। दाहिनी ओर युवराज के निकट निम्न स्थान में एक आसन रिक्त पड़ा था और उसके बाद नगर के गण्य मान्य प्रतिष्ठित सामन्त तथा सेठ बैठे हुए थे। राजसिंहासन के सामने सभा-भवन के ऊपर अर्धचंद्राकार बने हुए दर्शक-स्थान में राज परिवार तथा नगर के गण्य-मान्य परिवार की स्त्रियाँ बैठी थीं। उन्हीं में सुनंदा ऐसे स्थान पर बैठी थी कि वह सबको देख सकती थी और सब उसको देख सकते थे। सभा-भवन में निस्तब्धता थी। केवल शहनाई की मधुर ध्वनि वाता-वरण में गूंज रही थी।

जब नगर की प्रख्यात नर्तकी नयनतारा ने सभा-भवन में प्रवेश किया, तो कुछ व्यक्तियों ने हर्ष ध्वनि की। वह अभिवादन कर अपने साथियों के साथ नियत स्थान पर जा बैठी और पैर में घुंघरू बांधने लगी। उसके साथी साज मिलाने लगे। नयनतारा सुन्दर थी, पर उसके सौन्दर्य पर वासना की हल्की सी छाप थी। उसका प्रधान कर्म नृत्य का था, पर प्रच्छन्न रूप में वह उच्च श्रेणी की वेश्या थी। गिने-चुने उच्चकोटि के दो-तीन पुरुषों का ही उससे सम्बन्ध था और उनमें एक युवराज राजेन्द्रसिंह भी था।

उसी समय प्रहरी ने उच्च स्वर से पुकारा, "गुरुदेव महामहिम आचार्य महानन्द पधारे हैं।" उपस्थित पुरुष वर्ग सम्मान-दर्शक-भाव में एकदम उठ खड़ा हुआ। महाराज योगेन्द्रसिंह और युव-राज उठ कर आचार्य का स्वागत करने के लिये द्वार की ओर बढ़े। शीलभद्र के साथ आचार्य महानंद ने धीरे-धीरे सभा-भवन में पदार्पण किया और व्याघ्र-चर्माच्छादित आसन पर आसीन हुए। महाराजा राजसिंहासनारूढ़ हुए। शीलभद्र युवराज के निकटवर्ती

आसन पर बैठ गया।

युवराज ने आचार्य को तिलक लगा कर पुष्पमाला पहनाई और कुछ रेशमी वस्त्र, नारियल और स्वर्ण मुद्राओं से भरा रजत थाल आचार्य की सेवा में भेंट किया। फिर प्रणाम कर वह अपने आसन पर बैठ गया। तत्पश्चात् महाराजा का संकेत पाकर सेनापति इन्द्रसेन हाथ में एक पुष्पमाला लिये उठ खड़े हुए और बोले, "पूज्य गुरुदेव, आदरणीय महाराजाधिराज, माननीय युवराज और उपस्थित सज्जनगण, आपको विदित है कि युवराज की वर्षगांठ के उत्सव के उपलक्ष्य में गत वर्ष से घुड़दौड़ की प्रतियोगिता की प्रथा प्रचलित की गई है। प्रतियोगिता के लिये विशेष रूप से निर्माण किया गया प्रशस्त मार्ग एक कोस लम्बा है और वह आठ भागों में विभाजित है। दो हाथ ऊंची टट्टी के पश्चात् दो हाथ चौड़ा खंदक—इस प्रकार मार्ग में चार टट्टियां और चार खंदक समानान्तर पर बनाये गये हैं। दस घुड़सवारों की प्रतियोगिता में तेजी के साथ घोड़े को टट्टी से उड़वाकर और फिर शीघ्र ही खंदक से उछाल कर पार ले जाना यद्यपि सधे हुए सवार का ही काम है, परन्तु उसके घोड़े का सधा हुआ होना भी इसके लिये आवश्यक है। प्रतियोगिता में विजयी घुड़सवार का सभा-भवन में शाही सम्मान करने की प्रथा है।

"मुझे यह कहते हुए हर्ष होता है कि गत वर्ष इस प्रतियोगिता में सामन्त शीलभद्र के गले में विजय माला पड़ी थी और इस वर्ष भी वह सर्व प्रथम आकर विजयी हुए हैं [तालियों की तड़तड़ाहट] सामन्त शीलभद्र पूज्य गुरुदेव के पट्ट शिष्य हैं और महान दार्शनिक कलाकार हैं। रंगभरी तूलिका और घोड़े की लगाम—दोनों का संचालन करने में सामन्त शीलभद्र सिद्धहस्त तथा अद्वितीय है। मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि प्रथा के अनुसार वह यह

पुष्पमाला युवराज को अर्पित करें और युवराज से अपना पारितोषिक प्राप्त करें।" इतना कह कर सेनापति ने पुष्पमाला शीलभद्र को दी।

सभा-भवन तालियों की तड़तड़ाहट से गूंज उठा। ऊपर सुनंदा मन-ही-मन गद्‌गद्‌ होकर अपने भाग्य की सराहना कर रही थी।

शीलभद्र ने पुष्पमाला पहना कर युवराज को अभिवादन किया। युवराज उठ कर खड़ा हुआ और उसने प्रसन्नता पूर्वक शीलभद्र को आलिंगन पाश में लेकर गले से लगाया। फिर अपना बांया हाथ शीलभद्र के दाहिने कंधे पर रख कर सभा को संबोधित करते हुए युवराज बोला, "पूज्य गुरुदेव, पूज्य पितृदेव और माननीय उपस्थित सज्जनवृन्द, राजनगर राज्य के सबसे अधिक भाग्यशाली युवक और महान् कलाकार सामंत शीलभद्र का सन्मान करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। आप जानते हैं कि वह घुड़-दौड़ की प्रतियोगिता में विजयी हुए हैं। साथ ही साथ सभा-भवन को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि माननीय सेनापति महोदय की सुकन्या सुनंदा देवी की वर-परीक्षा में भी सामन्त शीलभद्र उत्तीर्ण हुए हैं और उनका विवाह शीघ्र ही होने जा रहा है—।"

यह सुनते ही लोगों ने हर्षध्वनि की और तालियां बजाईं। कुछ पुरुषों की आँखें ऊपर सुनंदा की ओर उठीं। स्त्रियों की आँखों का भी सुनंदा केन्द्र बन गई। सुनंदा आत्मगौरव अनुभव कर रही थी, परन्तु कई स्त्री-पुरुषों की आँखें उसकी ओर आकर्षित हो जाने से वह नारी-सुलभ लज्जा से अभिभूत हो गई और उसने अपनी आँखें झुका दीं। युवराज और शीलभद्र का प्रेम पूर्वक मिलन उसे बड़ा अच्छा लगा, पर युवराज के आचरण पर उसे आश्चर्य हो रहा था।

महाराजा योगेन्द्रसिंह और सेनापति इन्द्रसेन की आँखें भी युवराज के भाषण से विस्मय से फैल गईं।

युवराज ने अपना भाषण जारी रखते हुए कहा, "सामन्त शीलभद्र इस समय सौभाग्य-गिरि के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हैं। उनका भाग्य राज्य के महत्त्वाकांक्षी युवकों के लिये ईर्ष्या करने योग्य है। आज वह इस राज्य के गौरव-स्वरूप हैं। उनका गौरव कर मैं अपने को गौरवान्वित अनुभव करता हूँ। राज्य का सन्मान-दर्शक यह स्वर्ण-पदक मैं उन्हें सस्नेह प्रदान करता हूँ।" इतना कह कर युवराज ने स्वर्ण-पदक शीलभद्र के वाम वक्षस्थल के ऊपर अचकन में लगा दिया और एक रजत थाल, जिसमें रेशमी वस्त्र तथा कुछ स्वर्ण मुद्राएं थीं, शीलभद्र को भेंट किया। इसके बाद युवराज अपने आसन पर बैठ गया।

रजत थाल एक ओर रख कर शीलभद्र विनीत भाव से बोला, "पूज्य गुरुदेव, माननीय महाराजाधिराज और उपस्थित सज्जनवृन्द, राज्य की ओर से किये गये इस सन्मान के प्रति मैं विनय पूर्वक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। सन्मान से मनुष्य को आनंद होता है और अभिमान भी। आनंद स्वाभाविक है, परंतु अभिमान करना विचार शक्ति के अभाव का परिचायक है। मनुष्य का उत्थान आकाश से ऊंचा है और पतन पाताल से भी नीचे। वह उत्थान में देवता को और पतन में पशुता को मात कर देता है। उसके उत्थान और पतन का कारण केवल परिस्थिति होती है। परिस्थिति उसे आकाश का सितारा बना देती है और परिस्थिति उसे मिट्टी का जर्रा भी बना देती है। परिस्थिति अनुकूल हो तो पुरुषार्थ सफल होता है और परिस्थिति प्रतिकूल हो तो पुरुषार्थ भी मिट्टी में मिल जाता है। और यह परिस्थिति भाग्याधीन होती है। भविष्य के गर्भ में क्या है, यह कोई नहीं जानता। जीवन में मृत्यु, संयोग

ग्यारहवां परिच्छेद

"सुनंदा"

"गुरुदेव !"

"शीलभद्र कहाँ है ?"

"वह उधर खड़े रो रहे हैं।" साड़ी के आँचल से अपनी आँखें पोंछते हुए सुनंदा ने रुंधे हुए कंठ से कहा।

"जाओ, उससे कहो कि मैं बुला रहा हूँ।" इतना कह कर आचार्य ने रुग्णशय्या पर कठिनाई से करवट बदली। युवराज की वर्षगाँठ के पश्चात् वह एकाएक रुग्ण हो गये। बारह दिन से उनका स्वास्थ्य क्षीण होता जा रहा था। वह समझ गये थे कि जीवन का अवसान समीप है। वह धीरे-धीरे मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहे थे। शीलभद्र और सुनंदा दोनों उनकी सेवा में लगे रहते और रात्रि को भी दोनों कला-मन्दिर में रह कर क्रमशः आचार्य की शय्या के समीप बैठे रहते। महाराजा योगेन्द्रसिंह, युवराज सेनापति तथा नगर के अन्य गण्यमान्य व्यक्ति आचार्य की अवस्था जानने के लिये आते-जाते रहते। राजवैद्य ने शीलभद्र को दो घड़ी पहले बताया था कि अब आचार्य हमारे केवल दो-एक दिन के अतिथि हैं। यह बात सुन कर शयन-गृह के द्वार के बाहर वह अबोध बालक की तरह सिसक-सिसक कर रो रहा था।

शीलभद्र आकर आचार्य की शय्या के पास पैर की ओर खड़ा हो गया। उसका मुख कुम्हलाया था और आँखें रुदन से लाल हो गई थीं।

आचार्य ने शीलभद्र को बड़े गौर से देखा और फिर क्षीण स्वर में कहा, "शीलभद्र, यह रुदन किस लिये? यहाँ सभी प्रिय वस्तु का नाश होता है। यह संभव नहीं है कि प्रियजनों का वियोग न हो। वियोग अनिवार्य है। फिर यह रुदन क्यों? मृत्यु तो जीवन का अवभृथ स्नान है। उसमें अमंगल कुछ भी नहीं। गीता में भगवान् ने कहा है कि मृत्यु मैं ही हूँ। अहंता और ममता में फंसा हुआ मनुष्य मोह के कारण मृत्यु को अभिशाप समझता है, अमंगल समझता है। मृत्यु को जीतना अर्थात् मृत्यु को मंगलमय समझ कर उसको शांति तथा प्रसन्नता पूर्वक वरण करना ही जीवन की सर्वोच्च सफलता है। तुम समझदार हो। तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।"

शीलभद्र भरे हुए गले से बोला, "गुरुदेव, आपके मुझ पर बहुत ही उपकार हैं।" उसकी आँखें फिर सजल हो गईं। सुनंदा की आँखों में भी आँसू छलछला आये।

"उपकार?" जीवन की उस विकट वेला में भी आचार्य के क्लान्त मुखमण्डल पर मन्द मुस्कराहट दौड़ गई। उन्हें मरणान्तक पीड़ा हो रही थी, परन्तु अपने मनोबल से वह शांत तथा धीर-गंभीर बने हुए थे। वह मृत्यु को परास्त करना चाहते थे, मृत्यु से पराजित होना नहीं। उनमें केवल शारीरिक दुर्बलता थी, मानसिक दुर्बलता नहीं। वह आत्मबल से मृत्यु का सफलता पूर्वक सामना कर रहे थे। वह धीमी आवाज़ में बोले, "शीलभद्र, यहाँ कोई किसी पर उपकार नहीं करता। मनुष्य अपनी अंतवृ‍त्ति की हलचल को शांत करने के प्रयत्न में संलग्न रहता है।

वह अच्छे अथवा बुरे कर्म केवल अपनी अंतर्वृत्ति को शांत करने के लिये ही करता है। और अपनी अंतर्वृत्ति को शांत करना स्वार्थ ही तो है। मां अपनी वात्सल्य भावना की तृप्ति के लिये ही संतान की सेवा करती है। पत्नी अपनी नारी-भावना की शांति के लिये ही पति-सेवा करती है। पारलौकिक उन्नति के लिये, कारुण्य वृत्ति को शांत करने के लिये अथवा कीर्त्ति की चाहना को संतुष्ट करने के लिये ही दाता दान करता है। भावों को प्रकट करने की प्रबल प्रेरणा को शांत करने के लिये ही कवि और लेखक ग्रंथ-रचना करते हैं। वैज्ञानिक, साहित्यिक, कलाकार, देशभक्त, लोक-सेवक, दाता—ये सब स्वार्थ से प्रेरित होकर ही कार्य करते हैं, परन्तु उनका स्वार्थ जनता की दृष्टि से उपकार हो जाता है। स्वार्थ नीच और उच्च दो प्रकार का होता है। नीच स्वार्थ मनुष्य से नीच कर्म कराता है और उसको अधोगति में ले जाता है। उच्च स्वार्थ मनुष्य से उच्च कर्म कराता है और उसको उत्थान की ओर ले जाता है।" इतना कह कर आचार्य ने अपनी आँखें बन्द कर लीं। बोलने से उन्हें कुछ थकावट मालूम हुई। कुछ देर के बाद आँखें खोल कर वह क्षीण स्वर में बोले, "कला-मन्दिर को बंद कर दिये जाने के दस वर्ष पश्चात् तुमको और बाद में सुनंदा को मैंने कला-शिक्षा देना स्वीकार किया—क्यों? इसलिये कि मेरी अंतर्वृत्ति में तुम दोनों को सिखाने की प्रबल प्रेरणा हुई और उस प्रेरणा-जनित अशांति को शांत करने के लिये ही मैंने तुम दोनों को सिखाया है। मैंने जो कुछ किया, स्वार्थवश किया, परंतु मेरा स्वार्थ तुम्हारी दृष्टि से उपकार हो जाता है। वास्तव में यहाँ कोई किसी पर उपकार नहीं करता। मैंने तुम पर कोई उपकार नहीं किया है।" यह कह कर आचार्य मौन हो गये। थकावट के कारण उन्होंने आँखें फिर बन्द कर लीं।

शीलभद्र ने कुछ न बोलना ही उचित समझा। वह भक्ति-पूर्ण दृष्टि से आचार्य के मुख की ओर देखता रहा।

कुछ देर के बाद आचार्य ने फिर आँखें खोलीं, "शीलभद्र, तुमने महाभारत में भीष्म पितामह की मृत्यु का वर्णन पढ़ा है?"

"हाँ, गुरुदेव!"

"उत्तरायण की प्रतीक्षा में भीष्म पितामह अट्ठावन दिन तक बाणों की शय्या पर लेटे रहे और बीच में धर्मराज युधिष्ठिर को धर्मोपदेश भी सुनाते रहे। भीष्म पितामह की मृत्यु जीवित मृत्यु थी। मृत्यु भी जीवित हो सकती है और जीवन भी निर्जीव हो सकता है। भीष्म ने मृत्यु को परास्त कर जीवन की विजय-घोषणा की। जीवन चिरन्तन है, शाश्वत है। मृत्यु असत् है। वह है ही नहीं। जीवन सत् है, अमर है। मृत्यु में अमृत का अनुसन्धान ही जीवन की मृत्यु पर विजय है।" यह कह कर आचार्य फिर चुप हो गये और उन्होंने आँखें बन्द कर लीं, निद्रा देवी ने उन्हें अपनी गोद में ले लिया।

शीलभद्र और सुनंदा दोनों का हृदय आचार्य के प्रति श्रद्धा और भक्ति से भर आया, परन्तु वियोग की कल्पना से भक्ति-भाव में आर्त्तता आ गई।

उस समय प्रायः आधी रात बीत चुकी थी। कला-मन्दिर दीप ज्योतियों से आलोकित हो रहा था। सुनंदा ने धीरे से कहा, "तुम सो जाओ। मैं बैठी हूँ। मैंने तुम्हारी शय्या पिताजी के पास बिछा दी है।"

आचार्य की अस्वस्थता के कारण सेनापति इन्द्रसेन कला-मंदिर में ही सोते थे।

शीलभद्र ने मंद स्वर में कहा, "तुम्हीं सो जाओ। मैं बैठा हूँ।"

सुनंदा चुप हो रही। कुछ देर के बाद उसने धीमे स्वर से कहा, "तुम्हें नींद आने लगे, तो मुझे जगा देना।" इतना कह कर सुनंदा चली गई।

प्रातःकाल के समय आचार्य ने कुछ स्वस्थता अनुभव की। उन्होंने सुनंदा के हाथ से थोड़ा दूध पिया और शांत पड़े रहे। उनकी आज्ञा से शीलभद्र ने गीता के ग्यारहवें और पन्द्रहवें अध्याय का पाठ पढ़ कर सुनाया और दूसरे अध्याय के स्थित प्रज्ञ-लक्षण के अन्तिम बीस श्लोक भी पढ़कर सुनाये। सुनंदा ने मीरा का एक भजन गाकर सुनाया।

दिन का तीसरा प्रहर बीत जाने के पश्चात् आचार्य एकाएक अस्वस्थ हो गये। राजवैद्य ने उनकी नाड़ी-परीक्षा की और शयन-गृह से बाहर आकर शीलभद्र से कहा, "अन्त समीप है।"

शीलभद्र और सुनंदा की आँखों से अविरल आँसू बहने लगे। सेनापति ने एक सेवक को राज-प्रासाद में भेजा।

आचार्य क्षीण परन्तु शांत स्वर में बोले, "मेरे प्राण व्याकुल हो रहे हैं। मुझे चबूतरे पर ले चलो।"

कला-मंदिर और उसकी वाटिका के बीच प्रांगण में एक स्फटिक-चबूतरा बना हुआ था। सुनंदा ने शीघ्रता पूर्वक उस चबूतरे को धोया और अपनी साड़ी के आंचल से पोंछ कर साफ किया। सेनापति और शीलभद्र ने मिलकर आचार्य का पलंग उठाया और उन्हें चबूतरे के पास ले आये। सुनंदा ने चबूतरे पर व्याघ्रचर्म बिछा दिया और एक बड़ा तकिया रख दिया। सेनापति और शीलभद्र ने आचार्य को पलंग से उठाया और चबूतरे पर तकिए के सहारे अधलेटा सा उन्हें बिठा दिया। सुनंदा वाटिका में जाकर शीघ्र ही पुष्पों का ढेर एकत्रित कर लाई और उसने पुष्पों को चबूतरे पर चारों ओर फैला दिया। अगरबत्तियां जला

कर एक ओर रख दीं और धूपदान भी लाकर रख दिया। रजत-थाल में घृत-दीपक जला कर चबूतरे पर सामने रख दिया। फिर वह आचार्य के पास बैठकर धीरे-धीरे पंखे से हवा करने लगी। उसका हृदय व्यथित था और नेत्र सजल।

थोड़े समय के पश्चात् महाराजा योगेन्द्रसिंह, युवराज, राज-परिवार की स्त्रियाँ तथा अन्य गण्यमान्य व्यक्ति आचार्य के अन्तिम दर्शन के लिये कला-मंदिर में पहुँच गये। आचार्य के नेत्र बंद थे और उनके मुखमण्डल पर शान्ति-जनित आभा थी। सब आचार्य को प्रणाम कर चबूतरे के सामने उदास भाव से बैठ गये।

आचार्य ने नेत्र खोले, दृष्टि घुमा-फिरा कर सबको देखा और दोनों हाथ उठा कर सबको प्रणाम किया। उपस्थित व्यक्तियों ने उठ कर आचार्य के सन्मुख मस्तक नमा दिये और फिर सब बैठ गये।

उस समय सूर्यास्त का समय हो रहा था। दिन का देवता अदृश्य होने के लिये क्षितिज के उस पार जाने की तैयारी में था। पश्चिम का क्षितिज उस समय चिता के अंगारों की तरह लाल लाल हो रहा था। पक्षी चहक कर दिन के देवता की बिदाई का शोक मना रहे थे।

आचार्य ने अस्फुट स्वर में कहा, "सुनंदा!"

"गुरुदेव!" सुनंदा का हृदय भर आया, आँखें भर आईं।

"मीरा का कोई भजन सुनाओ। अन्तिम भजन!" इतना कह कर आचार्य ने नेत्र बंद कर लिये। उनके मुख पर मृत्यु की छाया पड़ रही थी।

सुनंदा का हृदय रो रहा था, आँखें बरस रही थीं। गाने की अवस्था में वह नहीं थी, परन्तु गुरुदेव की अन्तिम आज्ञा को

वह कैसे टाल सकती थी? उसने रोते हुए ही कहा, "हाँ, गुरुदेव!"

शीलभद्र ने शीघ्रता पूर्वक संगीत शाला से एकतारा और करताल लाकर सुनंदा को दिया। सुनंदा चबूतरे के सामने बैठ कर अपनी तत्कालीन भावना के अनुसार रुंधे हुए कंठ से रुदन भरा भजन गाने लगी—

जोगी मत जा मत जा, पाँव पड़ूं मैं तेरो
जोगी मत जा।
प्रेम भक्ति को पंथ ही न्यारो,
हम को गैल बता जा॥
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर—

सुनंदा भजन का अन्तिम चरण पूरा करने भी न पाई थी कि आचार्य का सिर एक ओर लुढक गया। शीलभद्र ने रोते हुए निष्प्राण सिर को सीधा किया। सुनंदा ने देखा, तो चीख मार कर उसने भजन का अन्तिम चरण पूरा किया—"जोत में जोत मिला जा॥" और फिर चबूतरे पर सिर रख कर वह फूट-फूट कर रोने लगी। सुनंदा के रुदनमय भजन ने या भजनमय रुदन ने सब को ही रुला दिया।

सूर्यास्त के साथ ही कला-मंदिर के कला-सूर्य का भी अस्त हो गया। सेनापति इन्द्रसेन शीलभद्र को सान्त्वना देने लगे और महाराजा योगेन्द्रसिंह सुनंदा को।

बारहवां परिच्छेद

दूसरे दिन महाराजा योगेन्द्रसिंह ने आचार्य का अन्तिम संस्कार शाही ठाठ से कराया। जिस चबूतरे पर आचार्य का देहान्त हुआ था, उसी पर ही उनका अग्नि-संस्कार शीलभद्र द्वारा किया गया। तीसरे दिन ही वहाँ स्फटिक समधि का निर्माण कार्य राज्य की ओर से प्रारंभ किया गया। आचार्य अपना मृत्यु-पत्र छोड़ गये थे। उसमें दस हजार वार्षिक आय की स्थावर सम्पत्ति सहित कला-मंदिर शीलभद्र और सुनंदा को समान रूप से प्रदान करने की इच्छा प्रकट की गई थी।

दिन बीतने लगे। जैसे-जैसे दिन बीतने लगे, मानव स्वभाव के अनुसार शीलभद्र और सुनंदा का शोकावेग शांत होता गया। आचार्य के अवसान के कारण शीलभद्र और सुनंदा का विवाह छः महिने तक के लिये स्थगित हो गया। आचार्य के देहान्त के पश्चात् शीघ्र ही विवाह करना दोनों को ही उचित नहीं जान पड़ा। तीन महीने में छोटी सी कला-पूर्ण समाधि का निर्माण कार्य पूर्ण हो गया।

सुनंदा प्रतिदिन प्रातःकाल के समय कला-मंदिर आती, समाधि को जल से धोती और वाटिका से पुष्प लाकर समाधि पर फैला देती। फिर यदि मन हुआ, तो समाधि के पास बैठकर मीरा का

कोई भजन गाती या संगीत शाला में जाकर गायन-वादन का अभ्यास करती। जब घर पर दिन का भोजन कर शीलभद्र कला मंदिर आता, तो उससे थोड़ा बहुत वार्तालाप कर वह घर चली जाती। शीलभद्र दिन भर कला-मंदिर में रहता और सायंकाल के समय वृद्ध सेवक रामसिंह को कला-मंदिर की चाबी सौंप कर घर चला जाता।

युवराज की आज्ञानुसार शीलभद्र ने युवराज का एक बड़ा चित्र कला-मंदिर की चित्रशाला में बनाया। वह उस चित्र को तूलिका हाथ में लिये सूक्ष्म दृष्टि से देख रहा था। उसी समय सुनंदा चित्रशाला में आई और चित्र की ओर देख कर मुस्कराती हुई बोली, "तुम्हारी तूलिका चूम लेने को जी चाहता है।"

शीलभद्र ने मुस्करा कर सुनंदा की ओर देखा, "तूलिका को चूमने से तूलिका का रंग तुम्हारे गुलाबी होंठों पर लग जायेगा और उससे रंग में भंग हो जायेगा। तूलिका भी कोई चूमने की चीज है। वह तो जड़ और साधन-मात्र है। कला तो इस चेतन हाथ में है। सन्मान करना ही है, तो सन्मान चेतन हाथ का होना चाहिये, जड़ तूलिका का नहीं।"

सुनंदा कुछ लजा गई, प्यार से बोली, "तुम बड़े वह हो।"

चित्र की ओर देखते हुए ही शीलभद्र ने कहा, "सुनंदा, युवराज सुन्दर है न ?"

"सुन्दर तो है, प—रं—तु—"

"परन्तु क्या ?"

"स्वभाव से उद्दण्ड है।"

"यौवन है, सौन्दर्य है, वैभव है, सत्ता है और अविवेक भी है। इन सब के एकत्रित होते हुए उद्दण्डता न हो, तो फिर आश्चर्य करना चाहिये। क्या युवराज तुमसे विवाह करना चाहता था ?"

"हाँ!"

"फिर ?"

"फिर क्या ?" सुनंदा मुस्कराई, "तुम जो बीच में टपक पड़े।"

शीलभद्र मुस्कराया, "और मैं बीच में न टपक पड़ता तो ?"

"तो क्या ? यह "तो" तो बड़ा लम्बा है। यदि मैं मर जाती तो ? यदि युवराज मर जाता तो ? यदि तुमसे परिचय न होता तो ? यदि तुम सुन्दर न होते तो ? यदि मैं पुरुष होती तो ? "तो" का प्रश्न करना ही व्यर्थ है। जो होना होता है, वही होता है। मेरे भाग्य में तुम्हीं थे। समझे ?" सुनंदा हंस पड़ी।

"और मेरे भाग्य में ?"

"मैं थी।" सुनंदा ने जोर देकर कहा और खिल-खिला कर हंस पड़ी। शीलभद्र भी हंस पड़ा!

उसी समय युवराज ने चित्रशाला में पदार्पण किया। शील-भद्र ने अभिवादन कर युवराज का समुचित स्वागत किया। सुनंदा ने युवराज को देखा, तो उसके माथे पर बल पड़ गये, परन्तु शिष्टा-चार का ध्यान रख कर उसने आसन से उठ कर अभिवादन किया।

युवराज सुनंदा को देख कर प्रसन्नता पूर्वक बोला, "तुम भी यहीं हो। तुम्हारे दर्शन कर मैं प्रसन्न हूं। जब से तुमने राज-प्रासाद से नाता तोड़ कर कला-मंदिर से जोड़ा, तब से तुम्हारे दर्शन तो मेरे लिये दुर्लभ हो गये हैं, भाग्य से ही होते हैं।" फिर शीलभद्र के कन्धे पर हाथ रख कर वह बोला, "सामंत शीलभद्र, आप भाग्यशाली हैं।" फिर चित्र की ओर देख कर बोला, "अच्छा, यह है हमारा चित्र!" कुछ देर तक चित्र को ध्यान पूर्वक देखने के बाद कहा, "ठीक है, मुझे पसंद है। सामंत शील-

भद्र, तुम्हारी कला प्रशंसा के योग्य है। चित्र देख कर मैं अपने को पहले से अधिक सुन्दर अनुभव कर रहा हूँ। तुम्हारी कला में और मेरे सौंदर्य में कोई कोर-कसर नज़र नहीं आती। (सुनंदा की ओर देखकर) सुनंदा देवी, चित्र में कोई त्रुटि तो नहीं है न? तुम एक महान् चित्रकार की संगिनी हो, इसलिये पूछता हूँ।"

"महान् कलाकार की कृति के गुण-दोष की आलोचना महान् कलाकार ही कर सकता है। मुझे तो कोई त्रुटि नजर नहीं आती।" सुनंदा ने गंभीर स्वर में कहा।

"ठीक कहती हो तुम। मुझे भी कोई त्रुटि नजर नहीं आती। सामंत शीलभद्र, चित्र के लिये मैं आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।"

शीलभद्र शांत स्वर में बोला, "कृतज्ञता प्रकट करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह तो मेरा काम ही है।"

युवराज मुस्करा कर बोला, "यदि आप चित्र का पारिश्रमिक स्वीकार करते, तो मैं पारिश्रमिक देकर कृतज्ञता प्रकट न करता। परन्तु आप परिस्थिति से सम्पन्न होने के कारण अपनी कला को धनोत्पादन का साधन नहीं बनाना चाहते। ऐसी अवस्था में आपके परिश्रम के प्रति सिवा कृतज्ञता प्रकट करने के और मैं कर ही क्या सकता हूँ?" इतना कह कर युवराज ने गाड़ीवान को पुकारा, "गयादीन, ओ गयादीन!"

"आया श्रीमान्!" कहता हुआ गयादीन चित्रशाला में आया।

"यह चित्र गाड़ी में रख दो।"

गयादीन चित्र लेकर चला गया।

युवराज ने शीलभद्र से कहा, "अच्छा, अब मैं चलता हूँ।"

"शीघ्रता क्यों? कुछ तो बैठिये।"

"मैं अपना चित्र देखने के लिये अधीर हो गया था, इसलिये चला आया। मेरे आने से आपके रंग में भंग हो गया। मैं क्षमा चाहता हूँ। सुनंदा देवी, राज-प्रासाद में कभी आ जाया करो, अच्छा!" यह कह कर युवराज बाहर गाड़ी के पास आया। शीलभद्र और सुनंदा भी युवराज को विदा करने बाहर आये। अभिवादन के आदान-प्रदान के पश्चात् युवराज गाड़ी में बैठा और हँस कर बोला, "अब आप दोनों विवाह के लड्डू जल्दी खिलाइये।"

शीलभद्र और सुनंदा दोनों मुस्कराए।

गाड़ी चल दी।

दोनों फिर चित्रशाला में गये। सुनंदा ने आसन पर बैठते हुए कहा, "है न उद्दण्ड युवराज?"

शीलभद्र शांत स्वर में बोला, "वह उद्दण्ड तो है, परन्तु उस में एक गुण है।"

"वह क्या?" सुनंदा ने चकित होकर पूछा।

शीलभद्र आसन पर बैठ कर बोला, "वह स्पष्ट वक्ता है। अपने अन्तस्तल के भावों को छिपाना वह नहीं जानता। इसी लिये साधारण शिष्टाचार का पालन वह कर नहीं पाता।"

"ऐसी स्पष्ट वक्तृता किस काम की, जो साधारण शिष्टाचार का भी पालन न कर सके? अच्छा, मैं आई थी अपनी बात कहने और यहाँ दूसरी ही बातें चल पड़ीं। कल मैं जा रही हूँ।" सुनंदा ने गंभीर स्वर में कहा।

"कहाँ?"

"मामा के यहाँ, राधानगर।"

"किस लिये?"

"माताजी जा रही हैं, उनके साथ जाऊँगी।"

"और सेनापति ?"

"पिताजी दस दिन राज्य का दौरा करेंगे और शिकार का भी कार्यक्रम बनाया गया है। अपना कार्य समाप्त कर वह भी राधानगर आ जायेंगे। फिर हम सब मिल कर यहाँ आयेंगे।"

"कितने दिन लगेंगे ?"

"बीस-पचीस दिन तो लग ही जायेंगे। मेरा मन तो तुम्हें छोड़ कर जाने को नहीं चाहता, पर फिर भी मुझे जाना ही होगा।"

शीलभद्र उदास होकर सोच में डूब गया।

सुनंदा ने प्यार से पूछा, "क्या सोच रहे हो ?"

"सुनंदा, तुम को याद है न, मीरा का चित्र बनाने से पहले मैंने तुमसे कहा था कि कर्तव्य के समय मनुष्य को संयम का पालन प्रसन्नता पूर्वक करना चाहिये ?"

"हाँ, याद है।"

"दस-बीस दिन के साधारण वियोग से उदास हो जाऊँ, इतना मेरा मन कच्चा नहीं है। जाने क्यों, आज तुम्हारे जाने की बात सुन कर तुम्हारे वियोग की कल्पना से मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है। मुझे ऐसा लग रहा है कि तुम मुझसे दूर—बहुत ही दूर जा रही हो। सुनंदा संयोग में उतना सुख नहीं है, जितना वियोग में दुःख है। सुख की अपेक्षा संसार में दुःख का पलड़ा भारी है। अच्छा, तुम्हें जाना है, तुम जाओ। मेरी शुभ कामनाएँ तुम्हारे साथ हैं।"

"और मेरी शुभ कामनाएँ तुम्हारे साथ हैं।" सुनंदा ने उदास होकर कहा, "मेरा भी हृदय व्याकुल हो रहा है। प्रेमाकर्षण में कितनी शक्ति है, यह वियोग के समय ज्ञात होता है। अच्छा, अब मैं बिदा होती हूँ।" इतना कह कर सुनंदा उठ खड़ी हुई। उसका हृदय भर आया। आँखों में आँसू छलछला आये।

शीलभद्र भी उठ खड़ा हुआ, "जल्दी आने का प्रयत्न करना।"

"हाँ, मैं जल्दी ही आने का प्रयत्न करूँगी।" सुनंदा ने प्यार से कहा, "शीलभद्र, तुमने कहा था कि सन्मान करना ही है, तो सन्मान चेतन हाथ का होना चाहिये, जड़ तूलिका का नहीं।"

"हाँ, कहा था।"

"तो मैं तुम्हारे हाथ का सन्मान करती हूँ।" यह कह कर सुनंदा ने शीलभद्र के हाथ का प्रेम में साविंत होकर चुंबन लिया।

दोनों ने ही अपूर्व आनंद का अनुभव किया, परन्तु उस आनंद में आर्त्तता थी। वह करुण रस के आवरण में शृङ्गार रस की एक लीला थी। वह चुंबन उन्माद रहित प्रगाढ़ प्रेम का परिचायक था।

चुंबन के पश्चात् सुनंदा ने शीघ्र ही नीचे झुक कर शीलभद्र के चरण छुए। शीलभद्र ने चकित होकर शीघ्रता से सुनंदा के दोनों माँसल भुजदण्ड पकड़ कर उसे उठाया, "सुनंदा, यह क्या कर रही हो?"

सुनंदा सिर झुकाये खड़ी रही। लज्जावश वह शीलभद्र की ओर देख न सकी। भाव-तन्मय होकर बोली, "मुझसे रहा नहीं गया।" इतना कह कर उसने आँचल से आँखें पोंछीं। शीलभद्र ने प्यार से कहा, "सुनंदा!"

"क्या?"

"मेरी तरफ देखो।"

सुनंदा ने लजा कर शीलभद्र की ओर देखा। आँखें चार हुईं। शीलभद्र के मन में आया कि सुनंदा को बाहुपाश में जकड़ कर उसके मोहक मुख को चूम लें, परन्तु विवेक ने उन्माद को दबा

दिया। उन्माद पर विवेक की विजय हुई। उसने केवल सुनंदा के सिर पर प्रेम से हाथ फेरा, "सुनंदा, तुम बड़ी भावुक हो।"

सुनंदा मुस्कराई, "जैसी भी हूँ, तुम्हारी हूँ।"

"और मैं?"

"तुम मेरे हो। अच्छा, अब आज्ञा दो। आज बहुत समय हो गया। बातचीत में समय का ध्यान ही नहीं रहा।" इतना कह कर सुनंदा शीलभद्र के साथ बाहर आई। उसने आचार्य की समाधि को भक्ति पूर्वक प्रणाम किया। फिर गाड़ी में बैठ कर उसने हाथ जोड़ कर शीलभद्र को अभिवादन किया, "तुमसे दूर जा रही हूँ, पर तुम्हारी याद साथ में लिये जा रही हूँ।" इतना कहते ही गाड़ी चल दी।

शीलभद्र केवल मुस्कराया और निश्चल खड़ा होकर गाड़ी को तब तक देखता रहा, जब तक कि वह आँखों से ओझल नहीं हुई। फिर उद्विग्न होकर वह कला-मंदिर के प्रांगण में टहलने लगा।

तेरहवाँ परिच्छेद

एक अज्ञात तथा अदृश्य शक्ति मानव जीवन का संचालन तथा नियमन करती है। उस शक्ति को कर्म-विपाक, कर्म की गति, प्रारब्ध या भाग्य कहा जाता है। कर्म की गति गहन है और मनुष्य उस के आधीन है। जीवात्मा पहले पहल कर्म के बंधन में क्यों आया, इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर आज तक कोई दार्शनिक नहीं दे सका। आगे भी कोई इसका उत्तर दे सकेगा, यह आशा नहीं है। ईश्वर की एक अतर्क्य तथा अनादि लीला कह कर संतोष कर लिया जाता है। यद्यपि इस प्रश्न का प्रारंभिक समाधान नहीं होता, तथापि जीवन का अनुभव बताता है कि मानव भाग्याधीन है और उसको भाग्यानुसार सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। जीवन में जिसे सुख कहा जाता है, वह भी दुःख रहित नहीं होता। जीवन में यह संभव है कि दुःख ही दुःख मिले और सुख किञ्चिन्मात्र भी न मिले। परन्तु यह कदापि संभव नहीं है कि जीवन में सुख ही सुख मिले और दुःख कतई न मिले। सब तरह से दुःखी अनेक हैं, पर सब तरह से सुखी कोई नहीं। दुःख मानव जीवन का एक अनिवार्य अंग है और उसका कारण प्रारब्ध है। प्रारब्ध से बचने का कोई मार्ग नहीं है। उसको भोगना ही पड़ता है। वह अटल और अवश्यम्भावी है, यह दार्शनिक मत है।

शीलभद्र सौभाग्य के अत्युच्च शिखर पर आरूढ़ हो गया, तो कठोर दुर्भाग्य उसके सौभाग्य पर व्यंगपूर्वक अट्टहास कर उठा।

राजनगर में चेचक का प्रकोप फैला और शीलभद्र चेचक से बीमार हो गया। इस रोग के रोगी में 'देवी' प्रवेश करती है, ऐसी धार्मिक समझ है। और इसलिये इस रोग को माता या देवी कहा जाता है। शीलभद्र का सारा सुन्दर शरीर श्वेत चंपा-कली या मोती जैसे छोटे-छोटे गोलाकार फफोलों से व्याप्त हो गया। मुख पर फफोलों का इतना जोर था कि उसकी आँखें बंद सी हो गईं। शीलभद्र की माता और बहिन सुशीला यथाशक्य धार्मिक उपचार करतीं और शीतला माता की मनौतियाँ मानतीं। देवी के गीत गाये जाते और उसकी विधिपूर्वक पूजा की जाती। लगभग दो सप्ताह के पश्चात् शीलभद्र का रोग शान्त हुआ, परन्तु रोग अपनी अमिट छाप शीलभद्र के मुँह पर छोड़ गया। वह बाईं आँख से बिल्कुल अंधा हो गया। दाहिनी आँख की दृष्टि भी पहले की अपेक्षा कुछ मंद हो गई, पर उससे वह देख सकता था। दोनों आँखें अपना सौन्दर्य खो बैठीं थीं और देखने में विकृत सी हो गई थीं। आँखों के विकृत हो जाने और चेचक के ताजे अमिट दागों से उसका सारा मुख ही विकृत-सा हो गया। सुन्दर शीलभद्र कुरूप हो गया।

दुर्भाग्य की इस चोट से शीलभद्र तिलमिला उठा और जी मसोस कर रह गया। जब वह सुन्दरी सुनंदा की सौन्दर्य-दृष्टि पर विचार करता, तो उसका हृदय हाहाकार कर उठता और उसकी विकृत आँखों में आँसू उमड़ पड़ते। फिर यह कह कर अपने मन को सान्त्वना देने का असफल प्रयत्न करता कि भाग्य का भोग तो भोगना ही पड़ेगा। विवशता के सामने मनुष्य कर ही क्या सकता है? वह उदास-सा हो गया।

दोपहर का समय था। भोजन के पश्चात् शीलभद्र शयन-गृह में पलंग पर लेट कर आराम कर रहा था। उसमें रोग-जनित दुर्बलता कुछ शेष थी।

उसी समय सुनंदा की गाड़ी भवन के प्रांगण में आकर रुकी। प्रफुल्ल वदना सुनंदा गाड़ी से उतर कर भवन की ओर बढ़ी, तो बरामदे से सुशीला ने देखा। उसने आगे आकर फीकी मुस्कराहट के साथ सुनंदा का स्वागत किया, "आप कब आईं?"

सुनंदा मुस्कराती हुई प्रसन्न स्वर में बोली, "आज ही, स्नान भोजनादि से निवृत्त होकर इधर आ रही हूँ। मैं तो कला-मंदिर ही जा रही थी, पर सोचा कि घर होती चलूं। आपके भैया कहाँ हैं?" वह शीलभद्र से मिलने के लिये अधीर हो रही थी। वियोग के पश्चात् मिलन की मधुर भावना में वह विभोर हो रही थी। उसका हृदय आनंद की लहरों पर तरंगित हो रहा था। वह शीलभद्र की बीमारी से बिल्कुल अनभिज्ञ थी।

"घर में ही है।" सुशीला ने उदास स्वर में कहा, "आइये।"

"घर में ही हैं?" सुशीला के साथ शयन-गृह की ओर जाते हुए सुनंदा ने प्रसन्नतापूर्वक कहा, "तो मेरा घर आना ही ठीक रहा।"

दोनों शयन-गृह में पलंग के पास शीलभद्र की दाहिनी ओर खड़ी हो गईं। सुनंदा मधुर भावों से अभिभूत थी। सुशीला ने पुकारा, "भैया!"

शीलभद्र बाईं करवट पर लेटा पड़ा था। आँखें उसकी बंद थीं, पर वह जाग रहा था। वह अपने शरीर पर मलमल की महीन चादर ओढ़े हुए था। उसका दाहिना गाल भी चादर से ढका हुआ था। सुशीला की आवाज सुन कर शीलभद्र ने मुख से चादर हटाई और करवट बदल कर सामने देखा। शीलभद्र का

विकृत मुख देखते ही सुनंदा चीख मार कर पीछे हट गई और दोनों हाथ आँखों पर रख वह सुन्न सी रह गई। भाई के दुर्भाग्य पर सुशीला रो पड़ी।

"कौन सुनंदा !" शीलभद्र चकित हो व्यथित स्वर में बोला, 'तुम आ गई ?" सुनंदा ने हाथों को आँखों से हटाया और फिर शीलभद्र की ओर देखा।

"क्या तुम मुझे देख कर डर गई ? डरो नहीं। मैं वही शीलभद्र हूँ। रूप कुरूप हो गया, पर मन वही है, जो पहले था।" शीलभद्र पलंग पर उठ बैठा।

"यह क्या हुआ ?" सुनंदा ने प्रकृतिस्थ हो रुंधे हुए कंठ से कहा, "यह तुम्हें क्या हो गया ?"

"यह कठोर कर्म-गति की क्रूरता है।" शीलभद्र विशेष गंभीर हो गया, "भाग्य द्वारा की गई जीवन की बिडंबना है, उपहास है। तुमने कहा था कि जो होना होता है, वही होता है। वही हुआ, जो होना था।"

सुनंदा को निकटस्थ आसन पर बैठने का संकेत कर आँचल से आँखों के आँसू पोंछते हुए सुशीला ने कहा, "आपके जाने के बाद यह चेचक से बीमार हो गये। उसीसे यह सब कुछ हुआ। बाईं आँख से बिल्कुल अंधे हो गये। दाहिनी की दृष्टि भी पहले से कुछ कम हो गई है, परन्तु काम चला सकते हैं। मैं तो इन के जीवन से ही निराश हो गई थी। जीवन बच गया, लाखों पाये।"

"हाय रे भाग्य !" सुनंदा ने आसन पर बैठ कर शीलभद्र के मुख की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए खिन्न स्वर में कहा, "कितने सुन्दर थे और अब क्या हो गया ? मुख की ओर देखने से मुझे तो डर सा लगता है।"

"डरो नहीं, सुनंदा !" शीलभद्र करुण स्वर में बोला, "मुझ से डरो नहीं। मैं वही हूँ। मनुष्य भाग्य के हाथ का खिलौना है। हानि-लाभ, जीवन-मरण और यश-अपयश विधि के हाथ है। निपट अंधा नहीं हो गया, यह भी भाग्य की कृपा समझनी चाहिये। कहो, तुम तो प्रसन्न रही। आज ही आई हो ?"

"हां, मैं तो प्रसन्न थी, पर तुम्हें देख कर अधिक प्रसन्न होने के बजाय अधिक दुःखी हुई हूँ। क्या था और क्या हुआ ? मेरा तो मन एकदम उद्विग्न हो उठा है।" सुनंदा रो पड़ी।

"तुम्हारी उद्विग्नता का कारण मेरी कुरूपता है, सुनंदा ! भाग्य के इस अभिशाप पर मेरा कोई बस नहीं है। मैं तुम्हारी उद्विग्नता का अंत करने में समर्थ नहीं हूँ, इसका मुझे दुःख है।" शीलभद्र की वाणी में उसके अंतस्तल की वेदना बोल रही थी।

"मेरी उद्विग्नता का तुम दुःख न करो। तुम्हारे लिये तुम्हारा अपना दुःख ही बहुत है। यह विवशता का दुःख है, जिसका कोई उपचार नहीं। तुम्हारे दुःख से ही मैं दुःखी हूँ।" इतना कह कर सुनंदा ने आंचल से अपनी सजल आँखें पोंछीं, "कला-मंदिर तो बन्द ही होगा ?"

"हाँ, मैं तो लगभग एक महीने से कला-मंदिर नहीं जा पाया हूँ। तीन-चार दिनों में मैं जाने योग्य हो जाऊंगा। चाबी रामसिंह के पास है। क्या तुम जाना चाहती हो ?"

"हाँ, जाऊँगी। गुरुदेव की समाधि के दर्शन कर आऊँगी। बहुत दिन हो गये।"

उसी समय चन्द्रकांत शयनगृह में आकर प्रसन्नता पूर्वक बोला, "भैया, आज मेरा घोड़ा डेढ़ हाथ ऊंची टट्टी फांद गया।"

"अच्छा ?" शीलभद्र प्रसन्न होकर बोला, "बहुत अच्छी बात है। घोड़े को रोज अभ्यास कराया करो। आगामी वर्ष की प्रति-

योगिता में विजय माला तुम्हारे गले में पड़नी चाहिये।"

चन्द्रकांत ने सुनंदा को देखा तो उसको अभिवादन किया। अभिवादन का उत्तर देते हुए सुनंदा ने कहा, "आपको अपना भविष्य उज्ज्वल बनाना चाहिये। आपके भैया का उत्साह तो भाग्य ने ठंडा कर दिया है। अब उनकी आशा आप ही हैं।" इतना कह कर सुनंदा उठी और सुशीला से पूछा, "माताजी कहां हैं ?"

"वह पूजा-गृह में रामायण पढ़ रही हैं। चलिये, वह आप से मिल कर बहुत प्रसन्न होंगी।" सुशीला सुनंदा के साथ शयन-गृह चली गई।

थोड़े समय के बाद सुनंदा फिर शीलभद्र के पास आकर बैठ गई और उससे बातचीत करती रही। आखिर वह शीलभद्र को अभिवादन करते हुए उठ खड़ी हुई और बोली, "अच्छा ! अब आज्ञा दो, कला-मंदिर जाऊंगी।"

"जाओ, गुरुदेव की समाधि को मेरी ओर से भी प्रणाम करना। आज गुरुदेव होते, तो अपनी अमृत वाणी से मेरे दुर्बल हृदय को शक्ति प्रदान करते।" शीलभद्र की आँखें भर आईं।

"अच्छा !" कह कर सुनंदा आंचल से अपनी आँखें पोंछती हुई शयन-गृह से चली गई और गाड़ी में बैठ कर वह कला-मंदिर की ओर रवाना हुई।

मार्ग में अपने अंधकारमय भविष्य की कल्पना कर सुनंदा का कोमल हृदय तड़प उठा। उसकी आँखों के आगे अंधेरा सा छा गया। उसके व्यथित हृदय में भावों का तूफान सा आ गया। वह सोचने लगी, "अब क्या होगा ? जिस सुंदर और सुखद संसार की मैंने कल्पना की थी, वह कल्पना, कल्पना ही रह गई। मैं शीलभद्र से सहानुभूति तथा समवेदना प्रकट कर सकती हूँ, पर क्या अब मैं उससे प्रेम भी कर सकूंगी ? उसकी घृणोत्पादक

आँखें और विकृत मुख देख कर मुझे घृणा हो आती है। फिर मैं उससे प्रेम कैसे कर सकूंगी? अब उससे प्रेम करना मेरे बस की बात नहीं है। हाय री किस्मत! क्या सोचा था और क्या हुआ! शीलभद्र से सम्बन्ध विच्छेद करने से उसके कोमल हृदय पर कठोर कुठाराघात होगा, वह बड़ा ही दुःखी होगा। पर मैं क्या करूं? मैं भी तो विवश हूँ। जिसको प्यार नहीं कर सकती, उससे विवाह कैसा? और लोग क्या कहेंगे? वह मेरी हँसी उड़ायेंगे। कहेंगे, सुनंदा ने अंधे-काने कुरूप से विवाह किया। न मन में चैन और न बाहर चैन। और यदि शीलभद्र से विवाह न करूं तो? लोग कहेंगे, सुनंदा का प्रेम स्वार्थी था, मतलब का था। जब शीलभद्र पर दैवी विपत्ति आई, तो सुनंदा ने उससे मुँह फेर लिया। विवाह करूं तो हंसी और न करूं तो निन्दा! फिर मुझे क्या करना चाहिए? मेरा क्या होगा? हे भगवान, अब मैं क्या करूं? मैं"—सुनंदा इसके आगे सोच न सकी, क्योंकि गाड़ी कला-मन्दिर के प्रांगण में पहुंच चुकी थी।

सुनंदा किंकर्तव्य-विमूढ़ सी हो गई थी। उसका सिर सोचते सोचते चकरा रहा था। उसका हृदय अत्यधिक व्यथित था और आँखें सजल। उसी अवस्था में वह गाड़ी से उतरी। गुरुदेव की समाधि के दर्शन करते ही उसकी भावना का स्रोत संयम का बांध तोड़ कर बेरोक-टोक वह निकला। समाधि पर सिर रख रुंधे हुए कण्ठ से 'गुरुदेव!' कह कर वह एकदम रो पड़ी और वहीं बैठ कर सिसक-सिसक कर रोने लगी। वह बहुत देर तक रोती रही। रुदन से उसका हृदय शांत हुआ।

रामसिंह ने आकर अभिवादन कर पूछा, "देवीजी, आप आज ही आई हैं?"

"हाँ।"

"आपके जाने के बाद श्रीमान् सामंत तो चेचक से मरते-मरते बच गये। भगवान की बड़ी कृपा हुई।"

"मुझे मालूम है।" इतना कह कर सुनंदा उठी। जल लाकर उसने समाधि को धोया और वाटिका से पुष्प लाकर समाधि पर फैला दिये। फिर वह संगीत शाला में गई। कुछ देर तक वहाँ बैठ कर वह फिर समाधि के पास आकर बैठ गई। कुछ देर के बाद गाड़ी में बैठकर वह घर की ओर चल दी।

चौदहवां परिच्छेद

शीलभद्र के कुरूप हो जाने के फलस्वरूप सुनंदा के जीवन का आनंद और उल्लास जाता रहा। वह उदास सी निराश सी और अस्वस्थ सी रहने लगी। उसके हृदय में शीलभद्र के लिये पर्याप्त आदर था और सहानुभूति भी थी। शीलभद्र उसके लिये श्रद्धेय था, परन्तु कुरुपता के कारण काम-प्रेरणा-मूलक जो प्रेमाकर्षण था, वह जाता रहा। सुनंदा की यह धारणा हो गई थी कि वह शील-भद्र को देवता समझ कर पत्थर की मूर्त्ति की तरह पूज सकती है, परन्तु प्रेमी समझ कर उससे प्रेम नहीं कर सकती। मनुष्य की धारणा के अनुसार ही उसकी भावना होती है। सुनंदा सौंदर्योपासिका थी और इसलिये उसमें कुरूप शीलभद्र के प्रति प्रेमाकर्षण न रहा।

सुनंदा की धारणा और भावना का उसके आचरण पर प्रभाव पड़ा। भावी पति मान कर जिससे, मर्यादित अवस्था में ही सही, खुले मन से प्रेम किया हो, उससे यदि विवशतया वह नाता भुला कर प्रेम रहित व्यवहार करना पड़े, तो उस व्यवहार में एक संकोच सा उत्पन्न हो जाता है और उस संकोच में एक झिझक सी पैदा हो जाती है। संकोच के कारण सुनंदा को शीलभद्र से मिलने में एक झिझक सी होती, हिचकिचाहट होती। इसके परि-

णाम स्वरूप सुनंदा ने शीलभद्र से मिलना-जुलना बन्द सा कर दिया। वह प्रतिदिन प्रातःकाल कला-मंदिर जाती, परन्तु भोजनोपरान्त शीलभद्र के वहाँ पहुँचने से पहले ही वह घर लौट आती। शीलभद्र के प्रति श्रद्धा और सहानुभूति के होते हुए भी संकोच के कारण वह उससे मिलने से बचती थी। यदि कर्म-धर्म संयोग से शीलभद्र से भेंट हो जाती और बोलना अनिवार्य हो जाता, तो कठोर कर्तव्य समझ कर वह अत्यधिक गंभीर बन कर संक्षेप में बोलती। उस बोलने में उत्साह, आनंद, उल्लास या हास्य बिल्कुल न होता। वह जीवन में अपने को अकेली अनुभव कर रही थी, पर वह किंकर्तव्य-विमूढ़ सी हो गई थी। वह नहीं समझ पा रही थी कि उसे क्या करना चाहिये? उलझे हुए जीवन से त्रस्त होकर प्रायः वह रुआनी सी हो जाती और उसकी आँखों में आँसू छलछला आते।

सुनंदा की उदासीनता से उसके माता-पिता चिन्तित हो उठे। शीलभद्र की कुरूपता से उन्हें बहुत ही दुःख हुआ था और उस दुःख में सहानुभूति भी थी। वह यह भी समझ गये थे कि सुनंदा अब शीलभद्र से उदास हो गई है और वह उस से विवाह नहीं कर सकती। माता-पिता भी अब शीलभद्र से विवाह कराना उचित नहीं समझते थे। माता-पिता में यह तय हुआ कि अब सुनंदा का विवाह युवराज से ही करा देना चाहिये। युवराज से अधिक प्रतिष्ठित और सुन्दर वर मिलने की आशा भी नहीं थी। रानी जयमाला ने सुनंदा की माता से आग्रह पूर्वक कहा था कि अब सुनंदा का विवाह युवराज से होने में कोई बाधा नहीं रह गई है, इसलिये विवाह जहाँ तक हो सके शीघ्र हो जाना चाहिये। परन्तु सुनंदा के माता-पिता युवराज के सम्बन्ध में सुनंदा की इच्छा को जाने बिना कोई बात करना उचित नहीं समझते थे

दिन का तीसरा प्रहर बीत चुका था। सुनंदा घर के संगीत-कक्ष में दीवार पर उसके चित्र के साथ ही जो शीलभद्र का चित्र टंगा हुआ था, उसको वहाँ से हटा कर दूसरे स्थान पर लगा रही थी। उसका चित्त उस समय अस्थिर हो रहा था और उसकी आँखों में आँसू उमड़ रहे थे। उसकी यह क्रिया द्वार मे खड़ी माता स्थिर दृष्टि से देख रही थी। भीतर जाकर वह ममतापूर्ण स्वर में बोली, "सुनंदा, मुझे यह तुम्हारी उद्विग्नता और रुदन अच्छा नहीं लगता। मै आज तुमसे स्पष्ट बातें करना चाहती हूँ। तुम क्या चाहती हो, निस्संकोच मुझसे स्पष्ट कहो।" इतना कह कर वह सुनंदा के पलंग पर बैठ गई।

सुनंदा चौंकी। माता की ओर देख कर उसने खिन्न स्वर में कहा, "मैं क्या चाहती हूँ, यह मुझे भी मालूम नहीं, माँ!"

"तुमने शीलभद्र के चित्र को वहाँ से हटाया—क्यों? क्या उसका अर्थ यह नहीं है कि अब तुम शीलभद्र को नहीं चाहती?" माता ने सुनंदा की ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा।

"शीलभद्र को चाहती हूँ या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देने की अवस्था में मैं नहीं हूँ, माँ!" सुनंदा के स्वर में करुणा थी।

माता ने गंभीर स्वर में कहा, "शीलभद्र का चित्र वहाँ से हटाने की अवस्था में तुम हो, परन्तु शीलभद्र को चाहती हो या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देने की अवस्था में तुम नहीं हो, यह बड़ी आश्चर्य की बात है, सुनंदा!"

"मेरा जीवन ही आश्चर्यमय बनता जा रहा है। मैं नहीं समझ पा रही हूँ कि मुझे क्या करना चाहिये?"

"तुम शीलभद्र को नहीं चाहती, इतना तो निश्चित है न?"

"मेरा चित्त अस्थिर है, मैं कुछ भी निश्चित नहीं कर पा रही हूँ। मेरा जीवन अनिश्चित दिशा की ओर जा रहा है। जब

चित्त स्थिर हो जायेगा, तो सब कुछ निश्चित हो जायेगा।"

माता ने दृढ़ स्वर में कहा, "मैं निश्चित तौर पर जानती हूँ कि तुम अब शीलभद्र को नहीं चाहती।"

"जानती हो, तो मुझसे क्यों पूछती हो?"

"इसलिये पूछ रही हूँ कि आगे का प्रश्न हल हो जाय। रानी जयमाला मुझसे आग्रह कर रही है और मेरी भी इच्छा है कि तुम्हारा विवाह युवराज से हो जाय। तुम्हारे पिता की भी यही इच्छा है।"

"मैं युवराज को चाहती हूँ, यह तुमको किसने बताया?" सुनंदा ने चकित होकर कहा।

"बताया किसीने नहीं, पर आखिर तुम्हारा विवाह तो कराना ही है। पहले तुम युवराज को चाहती थी। फिर शीलभद्र की ओर आकर्षित हुई और अब कुरूप हो जाने से शीलभद्र से भी तुम्हारा चित्त हट गया है। घूम-फिर कर बात जहाँ की तहाँ आ गई। युवराज तुम्हें हृदय से चाहता भी है।"

सुनंदा गंभीर हो गई, "मैं कुछ भी निर्णय करने की अवस्था में नहीं हूँ, माँ!"

माता कुछ तीव्र स्वर में बोली, "सुनंदा, स्त्री के लिये इतना अस्थिर चित्त होना ठीक नहीं है। तुम्हें युवराज से विवाह करना ही होगा। मैं अब तुम्हारी एक भी नहीं सुनूँगी।"

सुनंदा ने आग्रहपूर्वक कहा, "इतनी जल्दी न करो, माँ!"

"जल्दी क्यों न करूँ? क्या बात है? कोई बात भी तो हो।"

"विवाह को तुम कोई बात ही नहीं समझती हो। विवाह नारी के लिये जीवन का प्रमुख प्रश्न है।"

"वह मैं जानती हूँ, पर जब तुम शीलभद्र से नाता तोड़ चुकी हो, तो आखिर किसी से तो विवाह करना ही पड़ेगा। या यूँ ही कुंआरी रह जाओगी ?"

"भविष्य के गर्भ में क्या है, यह कोई नहीं जानता, माँ !"

"राजा की रानी बनने के सौभाग्य को ठुकराओ नहीं, सुनंदा ! समय बीत जाने पर पछताना पड़ेगा। मैं आज तुम्हारे पिता से कहूँगी कि युवराज से बात पक्की करें और तुमसे भी कहे देती हूँ कि पहले की तरह अब कोई गड़बड़ न करना।" यह कह कर माता चली गई।

सुनंदा अपने दुर्भाग्य पर रो पड़ी। उसके सामने फिर बड़ा भारी प्रश्नार्थक चिन्ह उपस्थित हो गया—युवराज या शीलभद्र ? परन्तु वह कोई निश्चित निर्णय न कर सकी। दूसरे दिन जब सेनापति ने सुनंदा से स्पष्टतया पूछा, तो वह असमंजस में पड़ गई। उसके हृदय में शीलभद्र के प्रति आत्मीयता थी, पर कुरूपता से ही वह उससे विरत होती रही। कुरूप कलाकार शीलभद्र की अपेक्षा सुन्दर युवराज को, उसको उद्दण्ड और भ्रमरवृत्ति का समझते हुए भी, सुनंदा ने अच्छा समझा और पिता से कह दिया, "जैसा आप उचित समझें, करें।" इतना कह कर वह रो पड़ी। सुनंदा का रुदन इस बात का परिचायक था कि युवराज से विवाह करने में वह खुश नहीं है और शीलभद्र के प्रति उसके हृदय में आत्मीयता ज्यों की त्यों बनी हुई है। युवराज से विवाह की स्वीकृति में केवल विवशता थी। इस बात को सेनापति भी समझ गये। वह प्रेमपूर्वक सुनंदा के सिर पर हाथ फेरते हुए बोले, "सुनंदा, वही होता है, जो भाग्य में होता है। अब शीलभद्र को भूल जाओ। वह तुम्हारे भाग्य में नहीं था।" यह कह कर सेनापति वहाँ से हट गये।

सुनंदा ने केवल अपनी सौंदर्य-दृष्टि के कारण कुरूप शीलभद्र से सम्बन्ध विच्छेद किया और युवराज से विवाह की स्वीकृति प्रदान की, पर क्या उसने यह निर्णय शांत और स्थिर चित्त से किया था ? क्या वह अपने हृदय-स्थित प्रेम की गहराई की थाह पा सकी थी ?

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

विपत्ति अकेली नहीं आती। आचार्य का देहान्त, चेचक की बीमारी से कुरूपता और सुनंदा का उपेक्षापूर्ण प्रेम रहित व्यवहार- इन से शीलभद्र का हृदय विदीर्ण सा हो गया था, परन्तु उसके दुर्भाग्य को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। घर की पुष्प-वाटिका में देवपूजा के लिये पुष्प-चयन करते हुए शीलभद्र की माता को सांप ने काट खाया और वह चल बसी। माता की मृत्यु से शीलभद्र अत्यधिक दुःख से पहले तो अवाक् सा रह गया—मानो किसी ने उसके सिर पर पूरे जोर से हथौड़ा दे मारा हो और वह उसकी चोट से सुन्न हो रहा हो, परन्तु बाद में वह खूब रोया। दुःखों के सतत् आक्रमणों से उसका जीवन दुःखमय हो गया।

शीलभद्र सरल प्रकृति का संयमी तथा निष्कपट जीव था। वह भावुक प्रकृति का आदर्शवादी था। जीवन की समस्याओं पर केवल स्वार्थ दृष्टि से नहीं, प्रत्युत तटस्थ और निष्पक्ष होकर विचार करने का वह आदी था और यह गुण उसे आचार्य से प्राप्त हुआ था। सुनंदा के उपेक्षापूर्ण प्रेम रहित व्यवहार से वह दुःखी अवश्य था, परन्तु सुनंदा की सौंदर्य-दृष्टि से भली भान्ति परिचित होने के कारण वह अपने भाग्य को दोष देता, सुनंदा को नहीं। कुरूप हो जाने पर भी उसका हृदय सुनंदा को चाहता था,

परन्तु साथ ही वह सुनंदा के प्रेम-त्याग को स्वाभाविक समझता था। वह स्वयं इस निर्णय पर पहुँचा था कि अब उसे सुनंदा को चाहने और उससे प्रेम करने का कोई अधिकार नहीं है, परन्तु प्रयत्न करने पर भी वह सुनंदा को अपने मन से नहीं निकाल पा रहा था।

शीलभद्र को सुनंदा की एक बात बुरी तरह खटकी थी। माता की मृत्यु हो जाने पर भी सुनंदा का सहानुभूति प्रकट करने के लिये न आना शीलभद्र को अनुचित प्रतीत हुआ और उसे सुनंदा की हृदयहीनता पर कुछ क्रोध भी हो आया। प्रेमाकर्षण सापेक्ष होता है, परन्तु मानवता निरपेक्ष होनी चाहिये, यह उसका मत था। उसे सुनंदा के व्यवहार में स्वाभाविकता की अपेक्षा कृत्रिमता ही अधिक नजर आती।

जिस दिन सुनंदा ने पिता के आग्रह से युवराज से विवाह करने की स्वीकृति प्रदान की, उसी दिन सायंकाल के समय जब शीलभद्र कला-मंदिर से अश्वारूढ होकर घर लौटा, तो प्रांगण में ही सुनंदा के सेवक ने उसको एक लिफाफा दिया। शीलभद्र ने लिफाफा खोला—उसमें केवल शीलभद्र की सुनंदा को दी हुई मुद्रिका थी। शीलभद्र सब कुछ समझ गया। उसे दुःख हुआ, पर आश्चर्य नहीं। उसने अपनी उँगली से सुनंदा की पहिनाई हुई मुद्रिका निकाली और सेवक को दे दी। सेवक चला गया। शीलभद्र ने अपनी मुद्रिका उंगली में पहिनी और विश्राम-गृह में उदास होकर बैठ गया। सुनंदा से सम्बन्धित प्रेम-प्रसंग उसके मनश्चक्षु के सम्मुख उपस्थित हो गये। और उन काल्पनिक दृश्यों में वह खो सा गया। अतीत के वह प्रेम-प्रसंग जागृतावस्था के स्वप्न बन कर उसके सामने आये।

"भैया! भोजन कर लो।" सुशीला ने आकर स्निग्ध स्वर में कहा।

शीलभद्र ने खिन्न स्वर में कहा, "भूख नहीं है। आज नहीं खाऊँगा।"

"थोड़ा खा लो भैया, मैं यहीं ला देती हूँ।" सुशीला ने आग्रहपूर्वक कहा।

"नहीं, दीदी, मुझे बिल्कुल भूख नहीं है।"

"भैया, तुम्हारी उद्विग्नता मेरे लिये चिन्ताजनक हो रही है। तुम बीमार हुए, तब से मैंने तुम्हारे मुख पर हँसी नहीं देखी। माँ होती, तो समझा-बुझाकर खिलाती। माँ की ममता तो मुझमें नहीं है, पर बहन का प्यार है। मेरी बात भी मानो, भैया!" सुशीला ने आँचल से अपने आँसू पोंछते हुए कहा।

"दीदी, तुम मेरी बहन भी हो, माँ भी हो। मैं तुम्हें माँ ही समझता हूँ। चलो, मैं भोजन करूँगा।" यह कह कर शीलभद्र सुशीला के साथ भोजन-गृह में चला गया।

प्रायः आधीरात बीत चुकी थी। चारों ओर मृत्यु सी निस्तब्धता थी। आकाश में चन्द्रमा और तारे खिलखिला कर हँस रहे थे, परन्तु अभागा शीलभद्र शयन-कक्ष में पलंग पर तकिए का सहारा ले अधलेटा सा रो रहा था—एकान्त में दिल के फफोले फोड़ रहा था। दुःखावेग कुछ शांत हो जाने पर वह उठ बैठा। चित्त अस्थिर हो रहा था। शयन-कक्ष में मृत्यु सा भयानक घुप्प अन्धेरा छाया हुआ था। उठ कर शीलभद्र ने दीपक जलाया। शयन-कक्ष आलोक से अलोकित हो उठा। सामने दीवार पर दृष्टि गई—सुनंदा का चित्र टंगा हुआ था। शीलभद्र चित्र को भली भांति देखने का लोभ संवरण न कर सका। दीवार से चित्र को उतार कर वह फिर बैठ गया और अपनी अतृप्त एक आँख से देखने लगा सुनंदा की मनहर छवि को। आँख चित्र पर गड़ गई—टकटकी बंध गई। भोली भावना

तड़प उठी और उसके मुँह से एक वेदनामयी आह निकल गई। हृदय भर आया। आँखों में आँसू छलछला आये। वह भावना की बाढ़ को रोक न सका और विवश होकर फिर रो पड़ा। रो कर जी को हल्का कर ही रहा था कि किसी ने शयन-कक्ष का दरवाजा खटखटाया। शीलभद्र एकदम सकपका गया। दम साधे उसने जल्दी से चित्र को चादर के नीचे छिपाया और रुमाल से आँखें पोंछ, मुख साफ कर पूछा, "कौन है ?"

"मैं हूँ, भैया !" बाहर से सुशीला ने स्नेहस्निग्ध स्वर में उत्तर दिया।

शीलभद्र ने दरवाजा खोल दिया और आकर पलंग पर सिर झुका कर बैठ गया। सुशीला कमरे प्रवेश करती हुई बोली, "खिड़की से प्रकाश देख कर मैं समझी कि तुम अभी तक सोये नहीं। इसीलिये मैंने दरवाजा खटखटाया।" यह कह कर वह शीलभद्र के पास ही पलंग पर बैठ गई। और फिर स्थिर दृष्टि से शीलभद्र के मुख की ओर देख कर अपना ममतामय हाथ उसके सिर पर प्रेमपूर्वक फेरते हुए उसने कांपते हुए दुलार भरे स्वर में कहा, "देख रही हूँ कि तुम रो रहे थे, भैया ! मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ ? तुम्हारे भावुक हृदय से मैं भली भाँति परिचित हूँ, परन्तु क्या उस सुनंदा की याद में रोना, जो तुम्हें नहीं चाहती, तुम्हारी मानसिक दुर्बलता का द्योतक नहीं है ? देखो, रोने से तुम्हारी आँखें कितनी सूज गई हैं ! कुछ समझ से काम लो, भैया !" और इस प्रकार शीलभद्र को समझाते समझाते सुशीला स्वयं रो पड़ी और आँचल से अपनी आँखें पोंछने लगी। सुनंदा द्वारा मुद्रिका लौटाने की बात रात को भोजन करते समय शीलभद्र ने उसे बताई थी।

शीलभद्र विमूढ़ सा बैठा रहा, कुछ बोला नहीं।

आखिर सुशीला उठ खड़ी हुई और शीलभद्र को पलंग पर लिटाते हुए बोली, "अब तुम सो जाओ। दीपक मैं बुझा दूँगी। अब सुनंदा को भूल जाने में ही भलाई है, भैया!" यह कह दीपक बुझा कर वह चली गई।

सुनंदा पर विचार करते-करते शीलभद्र की आँखें लगीं। उसने स्वप्न देखा, "दुलहन का शृङ्गार की हुई सुनंदा बल खाती हुई शीलभद्र के पास आई और घृणापूर्वक बोली, "शीलभद्र, तुम मुझे चाहते हो, पर दर्पण में जरा अपना मुख तो देखो। तुम कुरूप हो। मैं तुमसे घृणा करती हूं। (स्वर चढा कर) मैं तुमसे घृणा करती हूँ। (उच्च स्वर में) मैं तुमसे घृणा करती हूँ।" यह कह कर सुनंदा शीलभद्र से दूर भागने लगी। शीलभद्र ने उच्च स्वर में पुकारा, "सुनंदा! सुनंदा!! सुनंदा!!!"

शीलभद्र का चिल्लाना सुन कर सुशीला और चन्द्रकान्त घबराये हुए शीलभद्र के शयन-कक्ष में आये। चन्द्रकान्त ने दीपक जलाया। खटखटाहट से शीलभद्र जाग पड़ा। शीघ्र ही सारी परिस्थिति को वह समझ गया। बड़ा लज्जित हुआ। सुशीला ने पूछा, "क्या हुआ था, भैया?"

"कुछ नहीं, स्वप्न देखा था।" शीलभद्र अपराधी की तरह लज्जित होकर बोला।

"तुम सुनंदा को पुकार रहे थे।" सुशीला गंभीर स्वर में बोली, "भैया, यह मानसिक दुर्बलता तुम्हें शोभा नहीं देती। तुम उन गुरुदेव के पट्ट शिष्य हो, जो मृत्यु के समय में भी शांत और धीर-गंभीर बने हुए थे। उनका अन्तिम उपदेश तुम्हें यही था कि यहाँ प्रिय वस्तु का वियोग अनिवार्य है, इस लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। क्या तुम गुरुदेव के उस

अमृतमय उपदेश को इतनी जल्दी भूल गये ? क्या तुम गुरुदेव के एक मात्र शिष्य होने की योग्यता को प्रमाणित कर रहे हो ? जीवन दुःखमय है, परन्तु रुदन की एक सीमा होती है। तुम आत्मगौरव को भूल कर अपने को एक दीन-हीन प्रमाणित कर रहे हो। और गुरुदेव के नाम को भी लज्जित कर रहे हो। मुझे जो कुछ कहना था, कह चुकी हूँ। आगे तुम्हारी इच्छा है।"

सुशीला के समयोचित उपदेश का शीलभद्र पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसकी आँखों के सामने आचार्य के अन्त-काल का धीरोदात्त दृश्य एकबारगी घूम गया और उसका हृदय आत्म-ग्लानि से भर गया। श्रद्धा-दृष्टि से सुशीला की ओर देख कर वह शांत स्वर में बोला, "दीदी, तुम सच कह रही हो। मैं गुरुदेव की महिमा और गरिमा को भूल सा गया था और इस के फलस्वरूप आत्मगौरव को भी। कितना दयनीय जीवन बन गया था मेरा ! दीदी, तुमने मेरी आँखें खोल दीं। मैं अब आत्मगौरव को अनुभव कर रहा हूँ। दीदी, अब तुम मेरी आँखों में एक भी आँसू नहीं देख पाओगी, इतना विश्वास रखो।"

सुशीला उत्साहित होकर बोली, "भैया, तुम संयमी हो, धीर-गंभीर हो, पर दुःखों के सतत आक्रमणों ने तुम्हें विचलित कर दिया। तुम्हारा हृदय शक्ति-सम्पन्न है, केवल शक्ति को अनुभव करने भर की देर है। आत्म-विस्मरण से ही तुम दीन-हीन बन गये हो। तुम्हारी दयनीयता की एक मात्र दवा आत्म-बोध ही है। आत्म-बोध से आत्म-बल बढ़ेगा और आत्म-बल से तुम्हारे सब दुःखों का अन्त हो जायेगा। दो वर्ष पहले जब मैं विधवा हुई थी, तो तुमने ही अपनी अमृत-वाणी से मेरे व्याकुल प्राणों को प्रकृतिस्थ कर मुझे शाँति प्रदान की थी। यह

परिस्थिति का फेर है कि आज मुझे तुम्हारी उसी अमृत-वाणी को तुम्हारे प्रति दुहराना पड़ रहा है।"

"दीदी, अब मुझे तुम दुर्बल नहीं पाओगी। सुनंदा का वियोग अब मुझे व्याकुल नहीं बना पायेगा। संसार का कोई भी दुःख अब मुझे विचलित नहीं कर सकेगा।" इतना कह कर शीलभद्र पलंग के नीचे उतर पड़ा, "दीदी, अब तुम जा सकती हो।"

"ईश्वर तुम्हें सुबुद्धि दे।" यह कह कर सुशीला चली गई। चन्द्रकांत भी चला गया।

उस समय पौ फटने का समय हो रहा था। शीलभद्र नित्य कर्मों से निवृत्त होकर अरुणोदय के समय घोड़े पर सवार हो कर कला-मंदिर की ओर चल पड़ा। वह अपने में नव-जीवन का अनुभव कर रहा था। उसका हृदय आत्म-बल की प्रसन्नता से उछल रहा था। उसे लग रहा था कि जीवन में कोई दुःख नहीं, कोई बाधा नहीं। चेचक की बीमारी के पश्चात् वह आज ही जीवन में आनंद का अनुभव कर रहा था, परन्तु उस आनंद में संसार के प्रति विराग था, अनुराग नहीं। उसके जीवन में एकाएक महान् परिवर्तन हो गया। आशा ही परम दुःख है और निराशा ही परम सुख है—जीवन की इस अवस्था का वह अनुभव कर रहा था। उसके विराग और निराशा में अकर्मण्यता का आलस नहीं था, प्रत्युत गीतोक्त अनासक्ति तथा फलाशा रहित कर्मयोग का उत्साह था। आत्म-बल के आनंद और उल्लास से वह भरपूर था।

कला-मंदिर की वाटिका से पुष्प-चयन कर शीलभद्र ने वह पुष्प आचार्य की समाधि पर फैला दिये और समाधि को भक्ति-पूर्वक प्रणाम करते हुए मन में ही प्रार्थना की, "गुरुदेव, मेरे

दुर्बल हृदय में अपनी शक्ति भर दो, और आशीर्वाद दो कि मैं तुम्हारा योग्य शिष्य प्रमाणित हो सकूं।"

फिर वह संगीत शाला से एकतारा और करताल ले आया और समाधि के सन्मुख बैठ कर प्रसन्न स्वर में सूरदास का भजन गाने लगा—

सब दिन होत न एक समान ॥
प्रकटत है पूरब की करनी, तज मन सोच अजान।
सूरदास मैं कहँ लगि बरनौं, विधि के अंक प्रमान ॥

भजन समाप्त कर उसने समाधि को प्रणाम किया और एकतारा-करताल संगीत शाला में रख दिया। फिर घोड़े पर सवार होकर वह घर की ओर चल पड़ा। मार्ग में उसने देखा कि सुनंदा की गाड़ी कला-मंदिर की ओर आ रही है। जब गाड़ी निकट आई, तो उसने घोड़े को रोका। गाड़ी भी रुक गई। शीलभद्र सुनंदा की ओर देख कर प्रसन्नतापूर्वक बोला, "सुनंदा, राजनगर की भावी रानी बनने के उपलक्ष्य में मैं तुम्हें हार्दिक बधाई देता हूँ।" इतना कह कर इससे पहले कि सुनंदा कुछ बोले, उसने घोड़े को आगे सरपट दौड़ाया।

सुनंदा खिन्न मन से आँखों से ओझल हो जाने तक शीलभद्र को देखती रही। वह शीलभद्र से बोलना चाह रही थी, परन्तु शीलभद्र ने उसको बोलने का अवसर ही नहीं दिया और एकदम चला गया। शीलभद्र की उपेक्षा से वह मर्माहत सी हुई। शीलभद्र द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दी गई बधाई उसके कोमल कलेजे में बर्छी सी जा घुसी। वह तिलमिला उठी और रो पड़ी। शीलभद्र को प्रसन्न और लापरवाह देख कर उसके सौन्दर्याभिमान पर पानी फिर गया। उसका अनुमान था—कहना चाहिये कि उसे विश्वास था कि उसके प्रेम-त्याग और वियोग

से शीलभद्र उदास सा और निराश सा रहता होगा और बड़ा ही दुःखी होगा, परन्तु उसने शीलभद्र को अपने अनुमान के विपरीत पाया, तो उसे लगा कि शीलभद्र तो उसको बिल्कुल भूल ही गया है। यही विचार उसके रुदन का कारण था।

जिसको रोना चाहिये था, वह हँस रहा था और जिसको हँसना चाहिये था, वह रो रही थी। आँचल से आँसू पोंछ कर सुनंदा ने गाड़ीवान से कहा, "चलने दो।"

गाड़ी चल पड़ी।

सोलहवाँ परिच्छेद

सुनंदा द्वारा विवाह की स्वीकृति का समाचार सुनकर युवराज की प्रसन्नता का ओर-छोर न रहा। उसे लगा कि वह मुँहमाँगी मुराद पा गया। शीलभद्र के कुरूप हो जाने के पश्चात् उसने यह अनुमान किया था कि सुनंदा अब विवश होकर उसकी ओर लौटेगी। और अब अनुमान को सत्य प्रमाणित होते देख कर वह फूला न समाया। खुशी मनाने के लिये वह अपने विश्राम-भवन में जाकर विश्राम-आसन पर बैठा और सुराही से सुगंधित मदिरा स्वर्ण-पात्र में उंडेल कर पी गया और पीता ही गया—एक, दो और तीन। तीन प्याले पीने के पश्चात उसने सुराही और पात्र यथास्थान रख दिये।

मदिरा की मादकता से युवराज का आरक्त वर्ण मुखमण्डल और अधिक आरक्त हो उठा और उसकी काली-काली आँखों में मादकता की लाली छा गई। मद-मस्त होकर वह सुनंदा की प्राप्ति की मादक कल्पना के सुख-सरोवर में डूबने-उतराने लगा। नशे में चूर होकर वह बतियाने लगा, "सुनंदा, कुरूप शीलभद्र को छोड़ कर तुम अपनी सौन्दर्य-पिपासा को तृप्त करने के लिये आत्म-समर्पित भाव से मेरे सौन्दर्य की सेवा में आ रही हो। आओ, मैं तुम्हारा मधुर-मदिर स्वागत

करूँगा। तुम मदिराची हो, मदिरामय हो और मैं तृषित-हृदय हूँ। मैं तुम्हें पी जाऊँगा। तुम भी सौन्दर्य की प्यासी हो। तुम मुझे पी जाना। बस, मैं तुम में और तुम मुझ में। यही जीवन का आनंद है, उल्लास है। तुम पिओ और मुझे पीने दो। तुम जिओ और मुझे जीने दो।" इतना कह कर वह कहकहा मार कर हँस पड़ा और उठ खड़ा हुआ। दाहिने हाथ में सुराही और बाँये हाथ में स्वर्ण पात्र लेकर उसने द्वार की ओर देखा और पुकारा, "गयादीन, ओ गयादीन !"

"आया श्रीमान् !" कहता हुआ गयादीन आकर विनीत भाव से खड़ा हो गया।

युवराज मदिरा से पात्र भर कर पी गया और बोला, "जाओ, नयनतारा से कहो कि हम आरहे हैं।"

"जो आज्ञा श्रीमान् !" कह कर गयादीन चला गया।

युवराज लड़खड़ाता हुआ दीवार पर टंगे हुए अपने चित्र के सामने गया और चित्र को एक टक देखने लगा। फिर उसने पात्र में मदिरा भर कर पी और चित्र की ओर देख कर बोला, "युवराज, बड़े भाग्यशाली हो तुम। खुशियाँ मनाओ। कुरूप शीलभद्र जीती बाजी हार गया और तुम हारी बाजी जीत गये। तुम्हारी जीत क्यों हुई, जानते हो ? इसलिये कि तुम सुन्दर हो, अति सुन्दर हो। सुन्दरी सुनंदा तुम्हारे सौंदर्य पर निछावर हो गई। अब सुनंदा तुम्हारी है। खूब खुशियाँ मनाओ।" यह कह कर वह अट्टहास कर उठा और लड़खड़ाता हुआ विश्राम-आसन पर बैठ गया। सुराही और पात्र यथास्थान रख कर वह आसन पर अधलेटा सा हो गया, और बेसुर और बेताल रामायण की चौपाइयाँ गुनगुनाने लगा—

जा कर जा पर सत्य सनेहू ।
सो तेहि मिलहि न कछु संदेहू ॥
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा ।
जानत पिया एक मन मोरा ॥
सो मन रहहि सदा तोहि पाही ।
जानेउ प्रीत रीत यहि मांही ॥

फिर वह मौन होकर लेट गया । कुछ देर के बाद गयादीन लौट आया और अभिवादन कर बोला, "चलिये, श्रीमान् !"

"अच्छा !" कह कर युवराज उठ खड़ा हुआ । मदिरा की मादकता का उन्माद अभी शेष था । वेश-भूषा से सुसज्जित हो कर वह गयादीन के साथ विश्राम-भवन से चला गया ।

नयनतारा ने अपने भवन की एक गुप्त बैठक में युवराज का प्रसन्नतापूर्वक इठलाते हुए स्वागत किया । युवराज हँस कर बोला, "आज एक खुश खबरी सुनाने और खुशी मनाने तुम्हारे पास आया हूँ । जानती हो. वह खुश खबरी क्या है ?" इतना कह कर युवराज तकिए के सहारे गादी पर बैठ गया ।

नयनतारा सुराही से सुगंधित मदिरा पात्र में भर कर युवराज के निकट बैठ गई और युवराज के मुख से पात्र लगाते हुए उस ने मुस्करा कर कहा, "जानती तो नहीं, पर अनुमान कर सकती हूँ ।"

मदिरा का एक घूंट पीकर युवराज बोला, "वह क्या ?" यह कह कर उसने सारी मदिरा पीकर पात्र खाली कर दिया ।

नयनतारा ने युवराज की ओर मुग्ध दृष्टि से देखते हुए कहा, "सामंत शीलभद्र के कुरूप हो जाने के कारण शायद सुनंदा आप के साथ विवाह करने को प्रस्तुत हो गई हो ।" युवराज की सुनंदा के प्रति आसक्ति से वह पूर्णतया परिचित थी ।

"तुम बड़ी बुद्धिमान हो।" युवराज ने दोनों हाथों से नयनतारा के अरुण कपोलों पर प्यार-भरी थपकियाँ लगाते हुए प्रसन्न स्वर में कहा, "है न खुश खबरी ?"

नयनतारा ने कृत्रिम गंभीरता से कहा, "युवराज, एक ही बात सब के लिये सुखदायक नहीं हो सकती। आपके लिये यह खुशखबरी हो सकती है, मेरे लिये नहीं। सुनंदा से विवाह करने के पश्चात् आप मुझे भूल जायेंगे।"

युवराज खिलखिला कर हँस पड़ा, "नयनतारा, तुम जितनी बुद्धिमान हो, उतनी ही भोली हो। मेरी प्रणय की पहली प्यास तुमने बुझाई है। यदि तुम यह समझती हो कि सुनंदा से विवाह करने के बाद मैं तुमको भूल जाऊँगा, तो मैं कहूँगा कि तुमने मुझे समझा ही नहीं। एक पुष्प के मधुर-मधु से भ्रमर तृप्त नहीं होता, नयनतारा! पुष्प मुरझा जाय, तो बात दूसरी है। तुम तो अभी अनुराग-पराग से युक्त सुगंधित तथा पूर्णतया विकसित पुष्प हो। फिर मैं तुम्हें कैसे भूल सकता हूँ ?"

"आपकी कृपा है।" लज्जा का अभिनय करते हुए नयनतारा ने मुस्करा कर कहा, "मैं तो आप की दासी हूँ। दासी के लिये इतना ही यथेष्ट है कि स्वामी की कृपा-दृष्टि बनी रहे। आप सुनंदा को पा कर प्रसन्न हैं। स्वामी की प्रसन्नता में दासी भी प्रसन्न है। बेचारे शीलभद्र का दुःख आप के लिये सुख हो गया।"

"जीव को खाकर जीव जीवित रहता है, नयनतारा! जीवो जीवस्य जीवनम्—यह प्रकृति का नियम है। जब सुनंदा मेरी उपेक्षा कर शीलभद्र की ओर झुकी थी, तब मैं भी दुःखी हुआ था। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख। आज मैं सुखी हूँ, नयनतारा!" यह कह कर युवराज ने मदिरा का पात्र नयनतारा के मुख से लगाया।

मदिरा का एक घूंट पीकर नयनतारा ने कहा, "वर्षगांठ के दिन सभा-भवन में आपने शीलभद्र की जो प्रशंसा की थी, वह हृदय से की थी या केवल प्रदर्शनार्थ ?"

"हृदय से की थी।" युवराज शांत स्वर में बोला, "उसके भाग्य से मुझे ईर्ष्या थी, परन्तु उससे मेरा कोई द्वेष नहीं था। मेरे हृदय में शीलभद्र के प्रति आदर था और है। 'रज्जब साँचे शूर का बैरी करे बखान।' सुनंदा का उससे प्रेम हो जाने से मैं दुःखी अवश्य हुआ, परन्तु मैंने शीलभद्र का अहित-चिंतन कभी नहीं किया। अब उसके कुरूप होने से मेरी सुनंदा मुझे वापस मिल रही है और मैं प्रसन्न हुआ हूँ, यह एक दूसरी बात है। अच्छा, अब जाने दो इन बातों को। गाओ, नाचो और खुशी मनाओ।"

नयनतारा ने दासी को पुकारा, "मैना, री मैना !"

"आज्ञा ?" मैना ने आकर कहा।

"उन लोगों से कहो कि आजायें।"

मैना चली गई। थोड़ी देर बाद साजवाले साज लेकर पहुँच गये। नयनतारा ने पैर में घुंघरू बाँध कर साजों में स्वरैक्य स्थापित होते ही युवराज की आज्ञा से संगीत-नृत्य प्रारंभ किया। युवराज मदिरा का एक-एक घूंट पीते हुए मुग्ध दृष्टि से नयनतारा की ओर देखता रहा। नृत्य समाप्त होने के बाद साजवाले चले गये और नयनतारा ने बैठक का दरवाजा भीतर से बंद कर लिया। फिर ?

सत्रहवां परिच्छेद

युवराज से विवाह का निर्णय करने के बाद सुनंदा के हृदय का बोझ हल्का होने के बजाय और अधिक भारी हो गया।

शीलभद्र की कुरूपता और युवराज की सुन्दरता से वह विचलित हो गई थी। बाह्य कुरूपता और बाह्य सुन्दरता के फेर में पड़ कर उसने अपनी आन्तरिक मानसिक अवस्था का सूक्ष्म अध्ययन करने का प्रयत्न ही नहीं किया और ऐसा प्रयत्न करने की अवस्था में वह थी भी नहीं। वह किंकर्तव्य विमूढ़ थी। वह दुःखी थी और उसका चित्त अस्थिर था। ऐसी अवस्था में पिता के आग्रह से केवल अपनी सौंदर्य दृष्टि का विचार कर उसने युवराज से विवाह की स्वीकृति प्रदान की। उसके हृदय में शीलभद्र के प्रति जो गहरी आत्मीयता थी, उसकी उसने हठात् और बलात् उपेक्षा की थी। वह उपेक्षा स्वाभाविक नहीं थी, आवेगपूर्ण थी। आवेग या आवेश विकार है और विकार विचार शक्ति को नष्ट कर देता है या विचलित कर देता है। कभी कभी मनुष्य आवेश में ऐसा कार्य कर बैठता है, जिसको आगे चलकर वह अनुचित समझने लग जाता है और उस पर पश्चताप करता है। युवराज से विवाह के सम्बन्ध में सुनंदा का ऐसा ही हाल हुआ। वह उलझन को सुलझाने गई और स्वयं ही उलझन में उलझ गई।

उसे लगा कि वह जीवन में बड़ी भारी गलती कर बैठी। वह समझ नहीं पा रही थी कि अब उसे क्या करना चाहिये। पश्चाताप की अग्नि उसके हृदय में धीरे-धीरे सुलग रही थी।

दिन का तीसरा प्रहर बीत चुका था। भाग्य के फेर में पड़ी हुई सुनंदा अपने भवन के संगीत-कक्ष में गादी पर तकिए के सहारे अधलेटी-सी बैठी हुई विचार-सागर में डूब-उतर रही थी। उसके मुख की ओर देखने से ऐसा प्रतीत होता था कि कोई महान् दार्शनिक किसी दार्शनिक गुत्थी को सुलझाने में तल्लीन-सा हो रहा हो।

उसी समय सुधा संगीत-कक्ष में आई और बोली, "दीदी!"

सुनंदा ने सुधा की ओर देखा, "क्या है?"

"कथा सुनने नहीं चलोगी क्या?"

"कहाँ?"

"कृष्ण मंदिर में। माताजी जा रही हैं और मैं भी जा रही हूँ। तुम भी चलोगी न?"

"नहीं।"

"क्यों? यहाँ भी तो यूंही बैठी हो। वहीं चल कर बैठना।" सुधा ने आग्रहपूर्वक कहा।

"सुधा, तुम तो सदा सिर खाये जाती हो।" सुनंदा ने त्रस्त स्वर में कहा, "जब तुमसे कह दिया कि नहीं चलूंगी, तो चली क्यों नहीं जाती?"

सुनंदा की रुखाई से सुधा दुःखी हुई और चकित भी। वह सुनंदा के निकट जाकर बैठी और करुण स्वर में बोली, "दीदी, मुझसे नाराज हो गई हो। कितने ही दिनों से तुम्हारी हँसी ही गायब हो गई। न हँसती हो, न बोलती हो। एकान्त में खोई-खोई सी उदास बैठी रहती हो। कभी रोती हो, तो कभी सोच में पड़

जाती हो। मैं तुमसे बोलने के लिये तरसती रहती हूँ। तुम्हारे बिना मेरा जी नहीं लगता, दीदी! चाहती हूँ कि तुम्हारा जी बहलता रहे और तुम मुझसे नाराज हो जाती हो। तुम्हारा दुःख मुझसे नहीं देखा जाता, दीदी!" यह कहते हुए सुधा का हृदय भर आया और वह रो पड़ी।

"मेरी प्यारी बहन!" कह कर सुनंदा ने सुधा को प्यार से अपनी गोद में ले लिया और अपने आंचल से उसके आँसू पोंछते हुए स्नेह-स्निग्ध स्वर में कहा, "सुधा, रोओ नहीं। मैं तुमसे कभी नाराज नहीं हूँगी। अब तो खुश हो न? अब हँसो भला।"

सुधा गंभीर स्वर में बोली, "मैं तो सदा ही हँसती रहती हूँ। तुम्हींने तो हँसना छोड़ दिया। दीदी, मेरे बस की बात होती, तो तुम्हारा रुदन मैं ले लेती और अपनी हँसी तुम्हें दे देती।"

सुनंदा ने प्रेमावेश में सुधा को अपने वक्षस्थल से दबा लिया और रुंधे हुए कंठ से कहा, "मेरी अच्छी बहन, ऐसा न कहो। ईश्वर तुम्हें मेरे रुदन से बचाये और तुम्हारी हँसी सदा बनी रहे।" सुनंदा की आँखों में आँसू छल-छला आये।

सुनंदा के मुख की ओर देखती हुई सुधा ममतामय स्वर में बोली, "तुम तो मुझे हँसने को कहती हो और तुम स्वयं ही रो रही हो, दीदी! वह देखो, तुम्हारी आँखों में आँसू आ गये। पहले तुम बात-बात में हँसती थी और अब बात-बात में रो पड़ती हो। रोया न करो, दीदी!"

सुनंदा ने जल्दी अपनी आँखें पोंछीं और कृत्रिम हँसी हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा, "देखो, मैं हँस रही हूँ।" सुनंदा की कृत्रिम हँसी में रुदन से भी अधिक वेदना और हाहाकार था, परन्तु सुधा को उसकी हँसी से संतोष हो गया। वह सुनंदा की गोद से उठकर प्रसन्नता पूर्वक बोली, "अब कथा में चलो, दीदी।"

"हाँ, चलो।" कह कर सुनंदा सुधा के साथ संगीतकक्ष से चली गयी।

जब सुनंदा अपनी माता और सुधा के साथ कृष्ण मंदिर में पहुँची, तो स्वामी दर्शनानन्द का "गृहस्थाश्रम" विषय पर प्रवचन प्रारंभ हो चुका था। स्वामी दर्शनानन्द एक प्रभावशाली व्याख्याता होने के कारण श्रोताओं की भारी भीड़ एकत्रित हुई थी। सुनंदा, सुधा और माता के साथ स्त्रियों में जा बैठी। कई स्त्री-पुरुषों की आँखें सुनंदा की ओर आकर्षित हो गईं।

स्वामी दर्शनानन्द बोल रहे थे—"प्रेमी संत कबीर ने कहा है—

प्रेमी ढूंढत मैं फिरूँ, प्रेमी मिला न कोय।
प्रेमी को प्रेमी मिलै, सहज प्रेम दृढ़ होय॥

सच्चे प्रेमी संसार में दुर्लभ हैं। पिता तो बहुत हैं, पर राजा दशरथ जैसा पिता दुर्लभ है। इधर राम वन में गये और उधर दशरथ ने राम राम कहते हुए प्राण छोड़ दिये। संसार में भाई बहुत हैं, परन्तु भरत जैसा भाई दुर्लभ है। राम जंगल में जमीन पर सोते हैं और छोटा भाई होने के कारण मेरा स्थान उनसे नीचे है, यह विचार कर भरत जमीन में गढ़ा खोद कर उसमें सोता था, ताकि उसका स्थान राम के स्थान से नीचा बना रहे। संसार में पत्नियाँ बहुत हैं, परन्तु सीता-सावित्रि जैसी पत्नियाँ दुर्लभ हैं। वनवास राम को मिला था, परन्तु सीता सब का विरोध होते हुए भी यह कह कर राम के साथ वन में चली गई कि जहाँ राम होगा, वहीं सीता होगी। परन्तु राम ने क्या किया? अयोध्या वापिस लौट कर सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् लोकापवाद के कारण राम ने सीता का त्याग किया। लक्ष्मण उसे जंगल में छोड़ आया। पति द्वारा परित्यक्ता सीता के रुदन में बेवस नारी-जीवन की करुण-कहानी

अंकित है। गर्भस्थित राम के पुत्र राम को सौंप कर सीता अपने दारुण दुःख का अन्त करने के लिये राम का स्मरण करते हुए ही धरती में समा गई, परन्तु राम के प्रति उसके प्रेम में एक रत्ती भी अन्तर नहीं आया। राम के एक पत्नीव्रत की प्रशंसा करते हुए भी मैं कहूँगा कि सीता जैसी पत्नी हो, परन्तु राम जैसा पति न हो। सत्यवान की एक वर्ष के पश्चात् मृत्यु होगी, यह जान कर भी सावित्री ने सत्यवान को ही अपना पति बनाया, क्योंकि वह उसे पहले ही मन से पति स्वीकार कर चुकी थी। यह प्रेम की महिमा है।

प्रेम न बाड़ी ऊपजे, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचे, सीस दे ले जाय॥

प्रेम तो सिर का सौदा है। प्रेम में प्रेमी के प्रति त्याग और बलिदान की भावना होती है, केवल व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं।

प्रेम पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय।
लोभी प्रेम न कर सके, नाम प्रेम का लेय॥

कामी, क्रोधी, लोभी—ये प्रेम नहीं कर सकते। जो विकारों के दास हैं, उनका प्रेम में अधिकार ही नहीं होता, क्योंकि उनमें त्याग और बलिदान की भावना ही नहीं होती। वासना के कीड़े प्रेम की महिमा को क्या जानें! वासनात्मक मोह में केवल स्वार्थ होता है। प्रेमी पर कोई दैवी विपत्ति आते ही अथवा प्रेमी से अपना स्वार्थ सिद्ध न होते ही उससे मुँह फेरनेवाले मतलबी प्रेमियों की संख्या ही संसार में अधिक है। वास्तव में सुख की अपेक्षा दुःख में ही प्रेमी को सहानुभूति तथा समवेदना की अधिक आवश्यकता होती है, परन्तु स्वार्थी प्रेम—ऐन दुःख के समय पर ही दगा दे जाता है—।

यहाँ कुछ स्त्री-पुरुषों ने सुनंदा की ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से

देखा। सुनंदा सिर झुकाए अश्रुपात कर रही थी। वह लज्जा के मारे गड़ी जा रही थी। वह चाह रही थी कि धरती फट जाय और उसमें वह समा जाय।

स्वामी जी ने प्रवचन जारी रखते हुए कहा, "आज है और कल नहीं, वह प्रेम नहीं है।

छीन चढ़े छिन ऊतरे, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसे, प्रेम कहावे सोय॥

सच्चा प्रेम कभी घटता नहीं, प्रत्युत प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। ऐसे शुद्ध स्वार्थहीन प्रेम में देने की भावना प्रबल होती है, लेने की नहीं। मनोविकारों के अधिकार क्षेत्र से ऊपर उठनेवाले ही त्याग की भावना से अभिभूत हो प्रेम-पंथ के पथिक बन सकते हैं और आत्मोत्सर्ग का आदर्श उपस्थित कर सकते हैं। परिवार में पारस्परिक प्रेम की भावना विद्यमान हो, तो गृहस्थाश्रम इह-लोक में ही स्वर्ग बन जाता है। स्वार्थी प्रेम अर्थात् मोह गृहस्थाश्रम को नरक बना देता है। ऐसे नरक-सदृश गृहस्थाश्रम से मेरे जैसा एकाकी अकेला रहनेवाला संन्यासाश्रम लाख दर्जे अच्छा है, इतना कह कर मैं अपना प्रवचन समाप्त करता हूँ।"

प्रवचन समाप्त होने के पश्चात् प्रसाद-वितरण प्रारंभ हुआ। सुनंदा सिर झुकाए अपने आँसू पोंछने लगी। उसे लगा कि स्वामी जी का प्रवचन उसी की आँखें खोलने के लिये था।

मंदिर से घर आकर सुनंदा शयन-कक्ष में जाकर पलंग पर लेट गई। उसका चित्त अस्थिर हो रहा था। उसके मस्तिष्क में विचारों का तूफान सा आ गया, "मैंने शीलभद्र के प्रति अन्याय किया, विश्वासघात किया। प्रेम के उच्च आदर्श से मैं गिरी और वासना के दलदल में जा फंसी। जिस समय शीलभद्र को मेरी सहानुभूति की आवश्यकता थी, उसी समय मैंने उसको

छोड़ दिया। पता नहीं, शीलभद्र मेरे सम्बन्ध में क्या सोचता होगा। मुझे नीच, बेईमान, बेवफा, दगाबाज और जाने क्या-क्या समझता होगा। सौन्दर्य के झूठे अभिमान से मदान्ध होकर मैं नीच, बेईमान, बेवफा और दगाबाज बन गई। क्या शीलभद्र मुझे भूल गया होगा ? कला-मंदिर के मार्ग में मिला था, तो प्रसन्न दीखता था। ऐसा प्रतीत होता था कि उसे मेरे वियोग का कोई दुःख ही नहीं है। वह मुझे भूल नहीं सकता। उसने अपने मन को समझाया होगा। अब मैं क्या करूँ ? मैंने महान् पाप किया है और इस पाप का प्रायश्चित्त मुझे करना ही होगा; अन्यथा आमरण मुझे पश्चात्ताप की अग्नि में जलती रहना पड़ेगा। मैं कितनी मूर्ख हूँ कि युवराज से विवाह की स्वीकृति देकर अपने ही हाथ से अपने पांव पर कुल्हाड़ा मारा। मुझे किसी भी अवस्था में इस विवाह से बचना ही होगा, पर मैं क्या करूँ ? भगवन्, मेरी सहायता करो, मुझे मार्ग दिखाओ।"

इस प्रकार सोचने से वह अपने प्रति अश्रद्धा से अधिकाधिक भर आने लगी। ग्लानि और पश्चाताप से वह व्यथित हो उठी और सिसक-सिसक कर रोने लगी। अनुतप्त वेदना के अश्रुजल से उसका हृदय धुलकर पवित्र हो गया और विकार जाता रहा। सुनंदा ने अपने पवित्र हृदय में झाँका, तो वहाँ कुरूप शीलभद्र को बैठे पाया। कुरूप शीलभद्र भी सुनंदा को सुन्दर लगा और प्रिय लगा। घृणा और तिरस्कार का अन्त हो गया। उपेक्षा जाती रही। उसका हृदय शीलभद्र के प्रति ममत्व और प्रेम से पूरित हो गया। पहला ही प्रेमाकर्षण फिर उत्पन्न हुआ। उसकी दृष्टि में शीलभद्र पहले की अपेक्षा अधिक महान् हो उठा और वह स्वयं गिर गई। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि वह युवराज से विवाह नहीं करेगी, परन्तु विवाह की स्वीकृति का तीर छूट

चुका था और वह राजप्रासाद में जा पहुँचा था। राजप्रासाद में युवराज के विवाहोत्सव का आरंभिक आयोजन प्रारंभ हो गया था। विवाह में केवल एक सप्ताह की अवधि शेष थी और सुनंदा सोच रही थी कि अब वह क्या करे ?

अठारहवाँ परिच्छेद

दिन का पहला प्रहर बीत चुका था। भोजन-गृह में शीलभद्र और चन्द्रकान्त भोजन कर रहे थे और सुशीला पास ही बैठकर उन्हें परोस रही थी।

शीलभद्र ने सुशीला की ओर देखकर कहा, "दीदी, मैंने चार महीने तक देश-पर्यटन करने का विचार किया है। कला की दृष्टि से कुछ दर्शनीय स्थानों को देखना चाहता हूँ। मेरा विचार कला-मन्दिर को एक संस्था का रूप देने का है। धर्मपत्नी की मृत्यु से पहले गुरुदेव जिस ढंग पर कला-मंदिर को चला रहे थे, उसी ढंग पर मैं चलाना चाहता हूँ। गुरुदेव ने मुझे भारत की प्राचीन मूर्त्तिकला चित्रकला और संगीतकला से अभिज्ञ करा दिया है, पर मैं विभिन्न दर्शनीय स्थानों में घूम कर अपने कला-विषयक ज्ञान में वृद्धि करना चाहता हूँ।"

सुशीला कुछ उदास हो गई, "घर छोड़ कर चार महीने तक घूमते ही रहोगे?"

"हाँ, हो सकता है कि इससे कुछ अधिक समय लग जाय।"

"इस सामन्तशाही वैभव की-जमीन-जायदाद की व्यवस्था कौन करेगा?"

"वह सब कुछ मैंने चन्द्रकान्त को समझा दिया है। अब घर

का कर्त्ता-धर्त्ता चन्द्रकान्त को ही समझो। प्रवास से लौटने के पश्चात् मैंने सदा के लिये कला-मंदिर में ही रहने का निश्चय किया है। घर का अब तुम मुझे न समझो।"

सुशीला का हृदय भर आया, "घर का न समझूँ, तो क्या पराया समझूँ ?"

"पराया तो नहीं, पर अब मैं घर के किसी काम का नहीं हूँ।" शीलभद्र ने गंभीर स्वर में कहा, "यह सब सामन्तशाही वैभव चन्द्रकान्त का है। वैभव से मेरा जी ऊब चुका है। मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है।"

सुशीला की आँखें भर आईं। करुण स्वर में कहा, "भैया, उस दिन तुमको मैंने समझाया, तो तुम किसी दूसरे ही मार्ग पर चल पड़े। सामन्ती वेश-भूषा का त्याग कर दिया और दाढ़ी भी बढ़ा ली और अब घर को भी छोड़ने की बात कर रहे हो। मुझे तुम्हारा यह वैराग्यशील परिवर्तन अच्छा नहीं लगता, भैया!" यह कह कर वह आंचल से अपने आँसू पोंछने लगी।

"मेरे लिये यही एक मार्ग शेष रह गया है, दीदी, जिस पर चलने से आत्मगौरव की रक्षा होगी और आत्मशांति भी मिलेगी" शीलभद्र उदात्त भावों से अभिभूत होकर बोला, "तुमने कहा था कि आत्म-बोध से आत्म-बल बढ़ेगा और आत्म-बल से सब दुःखों का अन्त हो जायेगा। उसी मार्ग पर चल रहा हूँ। इसमें तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिए। जीवन के शेष मार्ग मेरे लिये बन्द हैं। तुम चाहती हो कि मेरा जीवन सुखी बने। इसी मार्ग पर चलकर मैं सुख-शांति का अनुभव कर सकता हूँ। मनुष्य को उसी मार्ग का अवलंबन तथा अनुसरण करना चाहिये, जो उसकी प्रकृति के अनुकूल हो। प्रतिकूल मार्ग पर चलने से तो पग-पग पर गिरने की ही संभावना बनी रहेगी। मैं दिन रात सुनंदा के ही विचारों में

डूबा रहता था। आज सुनंदा का ख्याल मुझे विचलित नहीं करता। यह अनासक्ति की शक्ति है। अनासक्ति की साधना के लिये अपरिग्रह के अभ्यास की अनिवार्य आवश्यकता है। इसीलिये मैं वैयक्तिक आवश्यकताओं को, जहां तक हो सके, कम कर रहा हूँ।

"भैया, क्या सुनंदा से विवाह होता, तो तुम गृहस्थ धर्म का पालन न करते ?" सुशीला ने भरे हुए गले से कहा, "सुनंदा के स्थान पर किसी दूसरी कन्या से तुम्हारा विवाह हो सकता है। संसार में गुणों की कद्र करनेवालों की संख्या भले ही कम हो, परन्तु धन की इज्जत करनेवालों की कमी नहीं है। तुम्हारी योग्यता के अनुरूप कन्या तुम्हें मिल सकती है, भैया! तुम धनवान हो और गुणवान भी हो।"

"वह मैं जानता हूँ, दीदी !" शीलभद्र और अधिक गंभीर हो गया, "जिस देश में साठ-सत्तर वर्ष के धनी बूढ़ों को तेरह-चौदह वर्ष की मासूम कन्याएं पत्नी के रूप में प्राप्त हो सकती हों, वहाँ मुझ जैसे कुरूप को भी एक नहीं, अनेक कन्याएं मिल सकती हैं, पर मैं किसी भी नारी की सौन्दर्य-दृष्टि पर अपनी कुरूपता का घृणोत्पादक प्रहार नहीं करना चाहता। जो चाहनेवाली थी, वही घृणा और तिरस्कार कर बैठी। अब मैं किसी को अपने से घृणा करने का अवसर ही देना नहीं चाहता और इसलिये मेरे जीवन में पत्नी के नाते किसी नारी का स्थान हो ही नहीं सकता। दीदी, यदि आत्मगौरव का अनुभव और रक्षा मैं न कर सका, तो मुझे आत्मशांति भी नसीब न हो सकेगी। विवाह करके मैं आत्म-गौरव का अनुभव और रक्षा नहीं कर सकता। 'मिटा दे चाह और बन जा शाहंशाह'—यही मेरे लिये आत्मगौरव की रक्षा का एक मात्र मार्ग है और उसी मार्ग पर चलने का मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया

है। गुरुदेव का जीवन मेरा पथप्रदर्शक है।" इतना कह कर शीलभद्र ने भोजन समाप्त किया और हाथ मुँह धोकर आसन पर ही बैठा रहा।

सुशीला ने निराश स्वर में कहा, "देश-पर्यटन को कब जाने का विचार है?"

"आज कौन वार है?"

"मंगलवार।"

"तो मैं सोमवार को जाऊँगा।"

"सोमवार को तो सुनंदा का विवाह है।"

"उसके विवाह से मेरा क्या संबन्ध?"

"राजप्रासाद से निमन्त्रण आया है!"

"चन्द्रकान्त चला जायगा। मेरा विवाह में सम्मिलित होना उचित नहीं है। उसी दिन मैं जाऊंगा।"

"साथ में सेवक कितने ले जाओगे?"

"एक भी नहीं। मैं स्वयं सेवक हूँ।"

"एक भी नहीं?" सुशीला ने दुःखी हो चकित स्वर में कहा, "तुम्हें क्या हो गया है, भैया! बिना सेवक के भोजनादि कौन बनायेगा?"

"मैं स्वयं बनाऊँगा।"

"तुमने कभी बनाया भी है?"

"परिस्थिति सिखा देगी।"

"दस सेवक साथ में रखने की सम्पन्नता होते हुए अपने को दुःखी बनाना उचित नहीं है, भैया!"

"दीदी, मैं कला-विषयक अध्ययन के साथ एकान्त का भी अनुभव करना चाहता हूँ।"

"अकेले का प्रवास सुखकर नहीं होता, भैया! कहीं आना-

जाना होता है, तो सामान की रखवाली करने के लिये दूसरे की आवश्यकता होती ही है।"

"मेरा घोड़ा किसी सेवक से कम नहीं है। उस पर लदे हुए सामान की रक्षा वह स्वयं कर सकता है।"

"घोड़े की सेवा के लिये भी तो सेवक चाहिये।"

"घोड़ा मेरा सेवक और मैं उसका सेवक।"

सुशीला ने रुआँसी होकर कहा, "भैया, तुम्हारी अजीब बातें सुनकर मेरा चित्त बड़ा अस्थिर हो रहा है। ईश्वर जाने, तुम्हारे मन में क्या-क्या है?"

"दीदी, मेरे लिये तुम दुःख न करो। कभी-कभी दुःख ही मनुष्य के उत्थान का कारण बन जाता है। यदि मैं कुरूप न होता तो मैं भी गृहस्थी के मोह-जाल में आबद्ध हो जाता और आज जो मैं आत्म-स्वातन्त्र्य का गौरवपूर्ण आनंद अनुभव कर रहा हूँ, वह न कर पाता। यदि मैं कुरूप न होता, तो शायद मैं अपने को गुरुदेव का योग्य शिष्य प्रमाणित न कर पाता। आज मुझे आशा है कि मैं अपने को सही अर्थ में गुरुदेव का विनीत उत्तराधिकारी प्रमाणित कर सकूँगा। क्या यह सौभाग्य की बात नहीं है?"

"मुझे तो जो कुछ हुआ और हो रहा है, स्वप्न सा प्रतीत हो रहा है। क्या होना था और क्या हुआ?" सुशीला आँचल से आँखें पोंछने लगी।

"वही हुआ, जो होना था।" यह कह कर शीलभद्र उठ खड़ा हुआ, "और जो कुछ हुआ, वह मेरी भलाई के लिये हुआ, इतना विश्वास रखो, दीदी!"

"तो सोमवार को ही जाने का निश्चय कर लिया है?" सुशीला उठ खड़ी हुई, "आखिर इतनी जल्दी क्यों?

"शुभस्य शीघ्रम् !" शीलभद्र ने मन्द मुस्कराहट के साथ कहा, "शुभ कार्य में देर नहीं करनी चाहिये।" इतना कह कर शीलभद्र ने चन्द्रकान्त की ओर देखा, "चन्द्रकान्त, तुम्हें जो कुछ समझाना था, मैं समझा चुका हूँ। आज हिसाब-किताब एक बार फिर देख लो और जो समझ में न आवे मुझसे पूछ लो। अब सामंत तुम हो, मैं साधारण हूँ।" यह कह कर शीलभद्र भोजन-गृह से चला गया।

चन्द्रकान्त की आँखों में आँसू छलछला आये। उसने करुण दृष्टि से सुशीला की ओर देखा, "दीदी, क्या तुम भैया को रोक नहीं सकती ?"

सुशीला ने रुंधे हुए कंठ से कहा, "रोक सकती, तो अवश्य ही रोक लेती। पर वह रोकने से रुक नहीं सकता। वह जायेगा और अपनी बात पूरी करेगा।"

चन्द्रकांत चिन्तित होकर धीरे-धीरे भोजन-गृह से चला गया।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

सुनंदा युवराज से विवाह न करने का मन-ही-मन निश्चय कर चुकी थी, पर उसे अपने निश्चय को कार्यरूप में परिणत करने का कोई उपाय सूझ नहीं रहा था। वह हैरान और परेशान थी। "क्या करूँ और कैसे करूँ ?"—के फेर में पड़ कर वह बेचैन हो उठी। कला-मंदिर के सेवक रामसिंह से उसे मालूम हो गया था कि शीलभद्र ने सामन्ती वेश-भूषा का त्याग कर दिया है और दाढ़ी भी बढ़ा ली है। और आज यह भी मालूम हो गया था कि शीलभद्र सोमवार को अर्थात् विवाह के दिन ही देश-पर्यटन करने को जा रहा है और चार-पांच महीनों के बाद लौटेगा। शीलभद्र के इस अवांच्छनीय परिवर्तन का कारण वह अपने को ही मान रही थी और बार-बार अपने को धिक्कार रही थी। शीलभद्र के प्रति उसका हृदय करुणा, श्रद्धा और प्रेम से भर आया, पर युवराज से होनेवाले विवाह से पिण्ड छुड़ाये बिना वह उससे मिलने का साहस नहीं कर पा रही थी। और वह व्यग्रता और अधीरता पूर्वक सोचती जा रही थी कि वह क्या करे ?

विवाह की नियत तिथि से चार दिन पहिले की बात है। सुनंदा ने संगीत-कक्ष में जाकर शीलभद्र का हटाया हुआ चित्र फिर अपने चित्र के साथ दीवार पर टांग दिया और भावावेश में चित्र

से बोली, "शीलभद्र तुम महान् हो, तुम उदार-हृदय हो। नीच स्वार्थी विचारों के लिये मुझे क्षमा कर दो, क्षमा कर दो।" इतना कह कर वह रो पड़ी।

उसी समय उसकी माता संगीत-कक्ष में आई और शीलभद्र के हटाये हुए चित्र को फिर उसी स्थान पर देख कर और सुनंदा की चित्र से की गई क्षमा-याचना सुन कर आश्चर्य से अवाक्-सी रह गई। फिर रोषपूर्ण स्वर में बोली, "सुनंदा, यह क्या तमाशा हो रहा है?"

सुनंदा परिस्थिति का सामना करने को उद्यत थी। दुःखावेग से कंपित स्वर में बोली, "मेरी मूर्खता से मेरा जीवन एक तमाशा ही हो गया है, मां! अब मैं मूर्खता से की हुई गलती का सुधार कर रही हूँ। माँ, मैं युवराज से विवाह नहीं करूंगी, नहीं करूँगी।"

माता मानो एकबारगी आकाश से गिर पड़ी। विस्मय और रोष से उसका मुख और नेत्र फैल गये। उसने तीव्र स्वर में कहा, "सुनंदा, तुम्हें लाड-प्यार से पाला, इसलिये तुम सिर पर चढ़ती जा रही हो। विवाह में केवल चार दिन शेष हैं और तुम कहती हो कि विवाह नहीं करूँगी। हमारी इच्छा न होते हुए भी यदि तुम प्रेम के नाम पर कुरूप शीलभद्र से ही विवाह करना चाहती, तो हमें कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु शीलभद्र से तुम्हारा मन फिर गया था और इसीलिये—।"

"वह मेरी गलती थी, माँ!" सुनंदा ने बीच में ही कहा।

"और युवराज से विवाह की दी हुई स्वीकृति भी गलती ही थी?"

"हाँ, वह मेरी दूसरी गलती थी और उसका कारण विवाह के लिये तुम्हारी शीघ्रता थी। शीघ्रता में मैं अपने हृदय को टटोल न सकी और एक के बाद दूसरी गलती और कर बैठी।"

"सुनंदा, तुम एक कुलीन कन्या हो, पर तुम्हारा आचरण कुलीन कन्या के योग्य नहीं है।"

"मनुष्य से गलती होना स्वाभाविक है। कुलीन कन्या भी गलती कर सकती है। मेरा आचरण कुलीन कन्या के योग्य न होता, तो मुझे युवराज से विवाह करने में कोई आपत्ति नहीं होती। कुलीन कन्या हूँ, इसीलिये सौन्दर्य और ऐश्वर्य से युक्त राजकुमार की रानी न बन कर एक कुरूप कलाकार की कामिनी बनना चाहती हूँ। मुझसे की गई कुरूप शीलभद्र की उपेक्षा कुलीन कन्या के योग्य नहीं थी और इसीलिये उस गलती को सुधार कर कुलीन कन्या होने का गौरव अनुभव करना चाहती हूँ।"

माता तिलमिला उठी, "सुनंदा, व्यर्थ ही बात को बढ़ाओ नहीं। गलती को सुधारने का समय हाथ से निकल गया है। अब कुलीनता की रक्षा युवराज से विवाह करने में ही है।"

सुनंदा गंभीर हो गई, "गलती को सुधारने का समय सदा ही बना रहता है, माँ। गलती को सुधारने से रोकनेवाली और गलती के सामने नतमस्तक होने की शिक्षा देनेवाली तथाकथित कुलीनता मानव के ऊपर उठने में बाधक होने से मानव-द्रोही है। ऐसी मानव-द्रोही तथाकथित कुलीनता की रक्षा के नाम पर मैं की हुई गलती के सामने नतमस्तक नहीं हो सकती।"

"क्या हो रहा है?" यह कहते हुए सेनापति इन्द्रसेन ने संगीत-कक्ष में पदार्पण किया। वह सेनापति की वेश-भूषा से सुसज्जित थे। उनकी म्यान में तलवार लटक रही थी। सेनापति की ओर देखकर सुनंदा की माता ने उलाहना-भरी आवाज में कहा, "आप ही समझाइये अपनी लाडली बेटी को। कहती है कि युवराज से विवाह नहीं करूँगी।"

सुनंदा के मुख पर तीक्ष्ण दृष्टि गड़ा कर सेनापति भराई हुई आवाज में बोले, "सुनंदा, क्या बात है ?"

पिता के रौद्र-गंभीर स्वरूप और स्वर से सुनंदा सकपका सी गई। वह असमंजस में पड़ गई। कुछ देर सिर झुकाए मौन रहने के बाद उसने नम्र स्वर में कहा, "मैं युवराज से विवाह नहीं करना चाहती।"

"सुनंदा !" सेनापति ने उग्र स्वर में कहा, "कन्या होते हुए भी मैंने तुमको पुत्र जैसा ही समझ कर प्यार से पाला। पुत्र को जो स्वतंत्रता दी जा सकती है, वह मैंने सामाजिक रूढ़ि की परवाह न करते हुए तुमको प्रदान की—इस विश्वास पर कि सुनंदा के हाथों में कुल की प्रतिष्ठा सुरक्षित है। मैंने आज तक तुम्हारी किसी भी इच्छा का विरोध नहीं किया और तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही चलता रहा, परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि आज तुम मेरी इच्छा और कुल की प्रतिष्ठा के विरुद्ध बोलने का साहस कर रही हो। पहले राज-परिवार की ओर से विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किया गया था, परन्तु तुम्हारी इच्छा को ही सर्वोपरि समझ कर मैंने उसको ठुकरा दिया। अब की बार तुम्हारी स्वीकृति से हमारी ओर से विवाह का प्रस्ताव पेश हुआ और उस प्रस्ताव का पालन होना ही चाहिए, अन्यथा हमारी प्रतिष्ठा एक क्षण में मिट्टी में मिल सकती है। विवाह का प्रश्न अब तुम्हारी इच्छा के अधिकार-क्षेत्र में नहीं रहा। अब वह हमारी प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया है। तुम जानती हो कि मुझे प्रतिष्ठा प्राणों से अधिक प्यारी है। विवाह में केवल चार दिन शेष हैं। यहाँ और राजप्रासाद में विवाह की तैयारियाँ धूमधाम से हो रही हैं। क्या तुम पिता के प्रेम और प्रतिष्ठा का अनादर करोगी ?"

पिता की बातें युक्तियुक्त हैं, यह सुनंदा ने अनुभव किया। अपनी माता से उसने जिस जोश के साथ बातें कीं, वह जोश परिस्थिति की प्रतिकूलता और पिता के प्रेम के कारण जाता रहा। पिता के प्रेम से उसका व्यथित हृदय भर आया। उसने रोते हुए कहा, "पिताजी, आप अपनी सुनंदा पर जो विश्वास करते आये हैं, उस विश्वास की रक्षा में प्राणों का मूल्य देकर भी करूँगी, इतना आप विश्वास रखिए। मैं ऐसी कोई बात नहीं करूँगी, जो आपकी और कुल की प्रतिष्ठा पर आघात करे।"

सेनापति ने प्रसन्न होकर सुनंदा के सिर पर प्रेमपूर्वक हाथ फेरते हुए दुलार-भरे स्वर में कहा, "सुनंदा, मुझे तुमसे यही आशा थी और है। तुम्हारा हृदय फिर शीलभद्र को चाहने लगा है, यह मैं जानता हूँ। परन्तु परिस्थिति के विरुद्ध चलकर कोई सुखी नहीं हो सकता। शीलभद्र को भूल जाओ और अपनी दृष्टि को युवराज में केन्द्रित करो। तुम समझदार हो।" यह कह कर सेनापति संगीत-कक्ष से चले गये। उनके पीछे सुनंदा की माता भी चली गई। द्वार के बाहर सेनापति ने सुनंदा की माता से कहा, "युवराज से विवाह की शीघ्रता कर हमने बड़ी भारी गलती की। इस विवाह से सुनंदा सुखी नहीं हो सकती। मेरे सामने अधिक बोलने का साहस वह न कर सकी, पर मैं उसकी व्यथा को जानता हूँ।"

"पर अब क्या किया जा सकता है? युवराज उसे खुश रखने में कोई कोर-कसर नहीं रखेगा और इससे हो सकता है कि सुनंदा उससे घुलमिल कर एकरस हो जाय।"

"हो [illegible] है," सेनापति ने उदास स्वर में कहा, "पर मुझे लगता [illegible] सुनंदा के भाग्य में सुख नहीं लिखा है। जिस समय [illegible] में पड़ी हुई थी और अपने हृदय को टटोल कर

निश्चित निर्णय करने में असमर्थ थी, उस समय शीघ्रता का अनुचित दबाव डाल कर हमने उससे विवाह की स्वीकृति ली। हमने अपने हाथ से अपने पाँव पर कुल्हाड़ा मारा।"

"आप चिन्ता न करें।" माता ने आशा-भरे स्वर में कहा, "विवाह के पश्चात् ईश्वर की दया से सब कुछ ठीक हो जायेगा।"

"ईश्वर तुम्हारी आशा पूर्ण करे।" यह कह कर सेनापति भवन से बाहर चले गये।

माता-पिता के संगीत-कक्ष से चले जाने के पश्चात् सुनंदा परिस्थिति की प्रतिकूलता और अपनी असहाय अवस्था से सुन्न सी हो गई। उसके चित्त के प्रेरणा-तन्तु जैसे गुम-सुम हुए जा रहे थे। उसे लगा कि वह शून्य में लटक रही है—निराधार! उसका सिर चकराने लगा। उसकी आँखों के सामने अंधेरा सा छा गया और अपने को संभालती हुई जाकर वह पलंग पर धड़ाम से लेट गई और आँखें मूंदे पड़ी रही।

बीसवाँ परिच्छेद

रविवार के दिन प्रातःकाल सुनंदा के भवन के द्वार पर शहनाई मधुर स्वर से आगामी सोमवार को अर्थात् दूसरे दिन होनेवाले विवाहोत्सव की शुभ-मंगल सूचना दे रही थी। अतिथियों के आगमन और विवाह के प्रारंभिक आयोजन से भवन में चारों ओर उत्सव की चहल-पहल थी, आनंद और उल्लास का वातावरण था। परन्तु उत्सव की प्रधान अभिनेत्री सुनंदा भवन के कृष्ण-मंदिर में भगवान की प्रतिमा के सम्मुख निश्चल बैठकर व्यथित हृदय से करुण परन्तु मौन प्रार्थना कर रही थी। उसकी बंद आँखों से आँसू निकल-निकल कर अरुण कपोलों को भिगोते हुए साड़ी के आंचल से आच्छादित उसके उन्नत उरोजों पर गिर रहे थे। वह वेदना की साकार तथा सजीव प्रतिमा सी प्रतीत हो रही थी।

उसी समय सेनापति इन्द्रसेन मंदिर में आये और करुणावस्था में ध्यानावस्थित सुनंदा को देखकर चिन्तित हो उठे। वह स्थिर दृष्टि से सुनंदा की ओर देखते रहे। उनका हृदय भर आया और आँखें भी भर आईं। कुछ देर के बाद अपनी आँखें पोंछते हुए वह मंदिर से चले गये।

कुछ क्षण पश्चात् सुनंदा के नेत्र खुले। उसने भगवान को

प्रणाम किया। फिर आंखें पोंछकर वह बाहर आई और गाड़ी में बैठ कर कला-मंदिर गई। वहां आचार्य की समाधि को जल से धोया और वाटिका से पुष्प लाकर समाधि पर फैला दिये। फिर वह समाधि के पास बैठकर विचारों का ताना-बाना बुनती रही। वह विचारों में तल्लीन सी हो गई। उसके मुरझाये मुख पर वेदना-मिश्रित गांभीर्य की छटा थी। कुछ देर के बाद उसके मुख पर आशा की क्षीण रेखाएँ खिंच गईं। कुछ उत्साहित होकर वह उठ खड़ी हुई और समाधि को प्रणाम कर गाड़ी में जा बैठी। घर आकर भोजनादि से निवृत्त हो वह संगीत-कक्ष में जाकर फिर विचारमग्न हो गई। कुछ देर के बाद आशा-निराशा में उलझी हुई सुनंदा गाड़ी में बैठ कर राजप्रासाद की ओर रवाना हुई।

उस समय दुपहरिया ढल चुकी थी। राजप्रासाद में आज सुनंदा का अकेली जाना एक आश्चर्यजनक बात थी। राजप्रासाद में विवाहोत्सव की धूमधाम और चहल-पहल थी। जब राजप्रासाद के द्वार पर पहुँची, तो सुनंदा लज्जा और संकोच से गड़ी जा रही थी। उसका हृदय धड़क रहा था। शरीर कंपायमान हो रहा था। हृदय का समस्त साहस बटोर कर वह राजप्रासाद में प्रविष्ट हुई। दालान में खड़े युवराज ने सुनंदा को देखा, तो आश्चर्य से वह स्तब्ध सा रह गया। सुनंदा का उसकी ओर ध्यान नहीं गया। वह महाराजा योगेन्द्रसिंह के विश्राम-भवन की ओर बढ़ी। युवराज उसकी ओर ध्यान से देख रहा था।

उस समय महाराजा योगेन्द्रसिंह विश्राम भवन में पलंग पर तकिए का सहारा लेकर अधलेटे से हुक्का पी रहे थे। महाराजा न्यायप्रिय, नीतिज्ञ और शांत वृत्ति के पुरुष थे। सुनंदा ने हिच-किचाहट के साथ विश्राम-भवन में प्रविष्ट होकर महाराजा के चरणों पर सिर रख कर प्रणाम किया।

महाराजा ने सुनंदा को देखा, तो आश्चर्य से अवाक् रह गये। विस्मय से उनकी आंखें फैल गईं। वह भर्राई हुई आवाज़ में बोले, "कौन ? सुनंदा ! और तुम यहां ? कल तो हम बरात लेकर तुम्हारे यहां तुम्हें शान और मान के साथ राजप्रासाद में ले जाने के लिये ही आ रहे थे। और तुम स्वयं आज ही आ गई हो। बड़े आश्चर्य की बात है !"

सुनंदा सिर झुकाए खड़ी थी और उसकी आँखें सजल थीं। विनीत भाव से बोली, "महाराज, विवशता के कारण लज्जा और संकोच छोड़ कर मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुई हूँ। धृष्टता के लिये क्षमा चाहती हूँ। आप मेरे पिता के समान हैं और मैं कन्या हूँ। आप राजा हैं और मैं प्रजा हूं। कन्या पिता से और प्रजा राजा से दया का दान माँगने की अधिकारिणी है। मैं आप से दया का दान मांगने आई हूँ।"

महाराजा और अधिक आश्चर्यान्वित हो गये, "तुम हमारी होनेवाली पुत्र-वधू हो, राजनगर की भावी महारानी हो। तुम हम से दया का दान माँगती हो ? आश्चर्य है ! बात को स्पष्ट करो।"

"महाराज !" सुनंदा शान्त और संयत स्वर में बोली, "कुरूपता के कारण शीलभद्र से प्रेम का नाता तोड़ कर मैंने जो महान् पाप किया, उसके पश्चात्ताप की आग में मैं जली जा रही हूँ। यदि प्रायश्चित्त के जल से इस आग को बुझाया नहीं गया, तो वह मुझे जलाकर राख का ढेर बना देगी। युवराज से होनेवाले विवाह पर मेरा मन उत्सव के गीत नहीं गा रहा, बल्कि मौत का मातम मना रहा है।"

महाराजा सुनंदा की मर्मस्पर्शी बात सुन कर एकदम सन्नाटे में आ गये। वह सुन्न से हो गये। बोले, "सुनंदा, विवाह का प्रस्ताव तुम्हारी ओर से पेश हुआ था।"

"मैं मानती हूँ, गलती मेरी है।" सुनंदा ने निर्भय होकर कहा, "मनुष्य का चलते हुए गिरना स्वाभाविक है, परन्तु गिरकर फिर उठना और चल देना न्याय और नीति के विरुद्ध नहीं है। मैं प्रेम के उच्च आदर्श से गिर पड़ी और अब मैं उठ कर फिर उसी आदर्श की ओर बढ़ना चाहती हूँ। मनुष्य के पतन में उत्थान के और उत्थान में पतन के बीज प्रच्छन्न रूप में विद्यमान होते हैं। गिरना और उठना दोनों बातें मनुष्य के लिये स्वाभाविक हैं।"

"परन्तु अब विवाह को स्थगित कर देने से राजसिंहासन की प्रतिष्ठा पर आघात होगा।"

"प्रतिष्ठा पर आघात तब होता है, जब दो पक्षों में वैर-विरोध और खींचातानी हो। इसमें तो ऐसा कोई प्रश्न ही नहीं है। मेरे पिता और आप दोनों मेरे लिये बड़े हैं और बड़ों की आज्ञा मेरे लिये शिरोधार्य है। परन्तु छोटी होने के नाते मुझे यह अधिकार है कि मैं अपने हृदय की बात आपके सामने रखूँ और आपको चाहिये कि मेरी बात पर सहानुभूति पूर्वक विचार करें। इसीलिये पहले ही कहा था कि मैं आपसे दया का दान माँगने आई हूँ।"

"क्या सेनापति से तुमने यह बात कही थी?"

"हाँ, दो दिन पहले ही कही थी।"

"उन्होंने क्या कहा?"

"उन्होंने कहा कि अब विवाह का प्रश्न तुम्हारी इच्छा के अधिकार-क्षेत्र में नहीं है। वह हमारी प्रतिष्ठा का प्रश्न है। विवाह का प्रस्ताव हमारी ओर से पेश किया गया और उस प्रस्ताव का पालन होना ही चाहिये।"

महाराजा ने सुनंदा की ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा, "फिर

तुमने क्या कहा ?"

"कुछ नहीं, मैं चुप रह गई। केवल इतना कहा कि मैं ऐसा कोई कार्य नहीं करूँगी, जो आपकी और कुल की प्रतिष्ठा के विरुद्ध हो।"

महाराजा ने शान्त स्वर में कहा, "विवाह-सम्बन्ध को तोड़ देने से युवराज की वैयक्तिक प्रतिष्ठा पर आघात होगा, क्या तुम यह नहीं मानती ?"

"और क्या युवराज की प्रतिष्ठा इस बात से बढ़ जायेगी कि युवराज की पत्नी अर्थात् राजनगर की भावी महारानी हृदय से युवराज को न चाह कर किसी और को चाहती रहेगी ? आखिर प्रतिष्ठा का क्या अर्थ है ?" सुनंदा ने कुछ तीव्र स्वर में कहा।

महाराजा ने सुनंदा की बातों में सार देखा, "तुम्हारा कथन उचित है, पर युवराज के सौन्दर्य और ऐश्वर्य को ठुकरा कर तुम एक कुरूप कलाकार को चाह रही हो, यह आश्चर्य की बात है। वैसे शीलभद्र के प्रति मेरे हृदय में पर्याप्त आदर और प्रेम है।"

सुनंदा ने आत्मगौरव के साथ कहा, "प्रेम का तकाजा है कि प्रेमी के दुःख में उससे अधिक प्रेम और अधिक सहानुभूति प्रकट की जाय। वासना और प्रेम में महान अन्तर है। वासना में स्वार्थ होता है और प्रेम में त्याग होता है। स्वार्थ-त्याग और आत्म बलिदान को ही प्रेम कहते हैं।"

महाराजा सुनंदा की विचार प्रणाली से प्रभावान्वित हो गये, "सुनंदा, मैं तुम जैसी पुत्र-वधू प्राप्त न कर सकूँगा और विवाह की तैयारियाँ यूँ ही व्यर्थ हो जायेंगी, इस बात का मुझे दुःख है। परन्तु तुम्हारी विचारपूर्ण हार्दिक बातें सुन कर मैं प्रसन्न भी हूँ। मैं तुम्हारी न्यायोचित इच्छा का आदर करता हूँ। यह विवाह नहीं होगा।"

प्रसन्नता से सुनंदा का हृदय नाच उठा। वह मानो फाँसी की सजा से मुक्त हो गई। वह महाराज के प्रति कृतज्ञ हो उठी, "मुझे दया का दान मिला। मैं आपके अनुग्रह के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। मुझे आपकी न्याय-प्रियता और नीतिज्ञता पर विश्वास था और इसीलिये अन्तिम आशा से प्रेरित होकर मैं आपकी सेवा में पहुँची। आशा सफल हो गई और मैं कितनी प्रसन्न हूँ! मेरी एक प्रार्थना और है?"

"वह क्या?" महाराजा ने सुनंदा की ओर स्थिर दृष्टि से देखा।

"आप मेरे पिताजी के लिये एक पत्र लिख दीजिये कि सुनंदा की बात मान कर हम विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद करते हैं और हमें आपसे कोई शिकायत नहीं है।" सुनंदा ने प्रसन्नतापूर्वक कहा।

महाराजा मुस्करा उठे, "पत्र की कोई आवश्यकता नहीं है, पर तुम्हारी इच्छा है, इसलिये लिख देता हूँ। वह दवात-लेखनी दो।"

सुनंदा ने लेखन-सामग्री महाराजा के सामने रख दी। महाराजा ने पत्र लिख कर सुनंदा के हाथों में देते हुए मुस्करा कर कहा, "और कोई इच्छा तो नहीं है?"

"आपकी दया है।" सुनंदा ने हँस कर प्रसन्न स्वर में कहा, "अब मैं आपकी आज्ञा चाहती हूँ।" यह कह कर सुनंदा ने श्रद्धा पूर्वक महाराजा को प्रणाम किया।

"तुम जा सकती हो।" इतना कह कर महाराजा फिर अपना हुक्का गुड़गुड़ाने लगे।

सुनंदा हँसती हुई विश्राम-भवन से बाहर निकली। वह राज-प्रासाद के द्वार की ओर बढ़ रही थी कि मार्ग के मोड़ पर क्रोध से संतप्त युवराज एकाएक सुनंदा के सामने आ उपस्थित हुआ

और उसको रोकते हुए तीव्र आग्नेय स्वर में बोला, "सुनंदा !"

सुनंदा ठिठक कर सहम सी गई। वह सिर झुकाए खड़ी रही।

"मैं तुम्हारे सौन्दर्य और प्रेम की भिक्षा मांगने के लिये तुम्हारे द्वार पर भिक्षुक बन कर नहीं आया था। मुझे तुम दुबारा अपमानित कर रही हो। पहले अपमान को मैं जहर की कड़वी घूंट की तरह जी मसोस कर पी गया—यह सोचकर कि वर-निर्वाचन करना तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। अब की बार तुमने अपनी इच्छा से मुझे वर चुना। कल विवाह और आज तुम कहती हो कि मैं युवराज से विवाह नहीं करूंगी। मेरी प्रतिष्ठा के साथ खिलवाड़ कर तुम आग से खेल रही हो, सुनंदा ! मैं तुम्हारा अन्तिम उत्तर चाहता हूँ—क्या तुम मुझ से कल विवाह नहीं करोगी ?" क्रोध से युवराज की आखें लाल हो रही थीं और शरीर कांप सा रहा था।

महाराजा के विश्राम-भवन में सुनंदा के प्रविष्ट होते ही युवराज विश्राम-भवन के द्वार पर जा, आड़ में खड़ा हो गया था और छिप कर महाराजा और सुनंदा का वार्तालाप सुनता रहा था। सुनंदा के बाहर निकलने से पूर्व ही वह वहाँ से हट कर राजप्रासाद के द्वार की ओर जाने वाले मार्ग की मोड़ पर खड़ा होकर सुनंदा के आने की प्रतीक्षा करने लगा था।

सुनंदा युवराज का उग्र रूप देख कर आतंकित हो उठी, परन्तु शीघ्र ही प्रकृतिस्थ होकर वह शांत स्वर में बोली, "मैं अपना अंतिम उत्तर महाराजा को दे चुकी हूँ और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया है !"

उसी समय महाराजा योगेन्द्रसिंह विवाह की तैयारियाँ बंद कर देने की आज्ञा देने के लिये विश्राम-भवन से बाहर आये और कुछ आगे बढ़े, तो उन्होंने युवराज और सुनंदा को एक दूसरे

के सामने खड़ा देखा। अनिष्ट की आशंका से वह एक स्तम्भ की आड़ में खड़े होकर उनकी ओर देखते हुए वार्तालाप सुनने लगे। युवराज और सुनंदा महाराज की उपस्थिति से अनभिज्ञ थे।

युवराज क्रोध से आगबबूला हो उठा, "विवाह का संबन्ध मुझसे है, महाराजा से नहीं।"

सुनंदा ने गंभीर स्वर में कहा, "न्याय का निर्णय करने का सम्बन्ध महाराजा से है, आपसे नहीं।"

"न्याय-नीति की बातें मैं नहीं जानता। मैं तुमसे अन्तिम उत्तर चाहता हूँ।"

"जो न्याय-नीति नहीं जानता, उसको उत्तर देने के लिये मैं बाध्य नहीं हूँ, परंतु मैं व्यर्थ का विवाद नहीं चाहती। मैं आपसे विवाह नहीं करना चाहती।"

युवराज ने उच्च स्वर से गरज कर कहा, "तो विवाह का प्रस्ताव उपस्थित करने की आवश्यकता ही क्या थी?"

सुनंदा ने विनयपूर्वक कहा, "वह मेरी गलती थी। मैं आपसे क्षमा चाहती हूँ।"

"गलती कहने और क्षमा मांगने से मेरी प्रतिष्ठा की पूर्ति नहीं हो सकती और मेरे हृदय में धधक रही प्रतिशोध की आग शाँत नहीं हो सकती। तुम्हें मेरे क्रोध का शिकार होना पड़ेगा।" घायल युवराज की प्रतिहिंसा भड़क उठी।

"आप क्या चाहते हैं?" सुनंदा ने शांत स्वर में कहा।

युवराज क्रोध से पागल हो गया, "मैं क्या चाहता हूँ? मैं तलवार के एक ही वार से तुम्हारे सिर को तुम्हारे धड़ से जुदा करना चाहता हूँ। तुम्हें गोली से उड़ा देना चाहता हूँ। तुम्हारा गला घोंट देना चाहता हूं। अपनी दोनो मुट्ठियों में तुम्हारे कोमल शरीर को जोर से पकड़ कर, मसल डालना चाहता हूँ।

तुम्हारी बोटी-बोटी चबाकर कुत्ते को—"

"युवराज !" महाराजा योगेन्द्रसिंह सामने आकर बीच में ही रोषपूर्ण स्वर में गरज उठे, "जोश में बेहोश मत बनो। सुनंदा को जाने दो। वह निर्दोष है।"

महाराजा का रौद्र-गंभीर स्वरूप देख कर युवराज का आवेश काफूर हो गया। वह व्यथित स्वर में विनीत भाव से बोला, "सुनंदा विवाह से इन्कार करके मेरी प्रतिष्ठा पर घातक प्रहार कर रही है, पिताजी !"

महाराजा गम्भीर स्वर में बोले, "यदि सुनंदा का विवाह तुमसे हो जाता, तो तुम्हारी प्रतिष्ठा पर और अधिक घातक प्रहार हो जाता। तुमसे विवाह करने पर भी सुनंदा का हृदय शीलभद्र को चाहता, तुम्हें नहीं। क्या ऐसी अवस्था में तुम सुनंदा से विवाह करना चाहते हो ?"

युवराज लज्जावनत हो बोला, "नहीं।"

"फिर तुम सुनंदा पर विवाह के लिये अपनी उपहासास्पद बहादुरी से अनुचित दबाव क्यों डाल रहे थे ? स्त्री की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह की इच्छा करनेवाले पुरुष आत्माभिमान-शून्य, गौरवहीन और निर्लज्ज होते हैं। वह स्त्री से सम्मानित होना नहीं चाहते, अपमानित होना चाहते हैं। सुनंदा तुमसे विवाह नहीं करना चाहती, इसलिये क्रोधित होकर तुम्हें उसका अपमान नहीं करना चाहिये था। एक निर्दोष कुलीन कन्या का अपमान कर तुमने कुलीनता के विरुद्ध कार्य किया है।"

"मानहानि से मैं उत्तेजित हो उठा था।" युवराज अपराधी की तरह बोला।

"युवराज !" महाराजा धीर-गंभीर होकर बोले, "मनुष्य के किसी कार्य के केवल बाह्य परिणामों से उस मनुष्य की परीक्षा

नहीं की जा सकती। जिस इच्छा से प्रेरित होकर मनुष्य कार्य करता है, उस इच्छा को समझने से ही उस मनुष्य को समझा जा सकता है। सुनंदा ने जो कुछ किया, उसका बाह्य परिणाम राजनगर के राजसिंहासन का अपमान है, परन्तु जिस इच्छा से प्रेरित होकर उसने ऐसा किया, वह इच्छा इतनी उदात्त, इतनी पवित्र और इतनी आदर्श है कि सुनंदा द्वारा अपमानित राज-सिंहासन भी सुनंदा का सन्मान करे। किये गये अपमान के लिये तुम्हें सुनंदा से क्षमा मांगनी चाहिये।"

युवराज ने सलज्ज दृष्टि से सुनंदा की ओर देखा, "सुनंदा, मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ।"

सुनंदा सकुचा सी गई, "इसमें क्षमा की कोई आवश्यकता नहीं है। जो कुछ हुआ, स्वाभाविक हुआ। मुझे ही आपसे क्षमा मांगनी चाहिये।"

महाराजा ने सुनंदा की ओर बड़े ध्यान से देखा, "सुनंदा, अब तुम्हें हमसे कोई शिकायत नहीं होनी चाहिये। युवराज ने उत्तेजित होकर जो कुछ कहा, उसे भूल जाओ। अब तुम जा सकती हो।"

महाराजा की उदारता से सुनंदा का हृदय भर आया। उसकी आँखों में कृतज्ञता के आँसू छलछला आये। कहा, "महाराज, मैं आपकी उदारता और अनुग्रह के बोझ से दबी जा रही हूँ। मेरा हृदय आमरण आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता रहेगा।" इतना कह कर सुनंदा ने नतमस्तक होकर महाराजा के चरण छुए और घर की ओर जा ही रही थी कि रानी जयमाला की दासी मंजरी ने आकर सुनंदा को अभिवादन कर कहा, "आपको रानी साहिबा ने याद किया है।"

सुनंदा के आगमन का आश्चर्यजनक समाचार राजप्रासाद

में चारों ओर फैल चुका था। कितने ही दास-दासियों और अन्य कर्मचारियों ने राजप्रासाद में आते हुए और महाराजा के विश्राम भवन में जाते हुए सुनंदा को देखा था और फिर उन्होंने उस समाचार को चारों ओर फैला दिया था। युवराज और सुनंदा का और फिर महाराजा का वार्तालाप विभिन्न स्थानों पर दूर खड़े हुए कितने ही स्त्री-पुरुष कर्मचारी चकित होकर सुनने का प्रयत्न कर रहे थे। बात अन्तःपुर में पहुँची, तो रानी जयमाला की सांस ऊपर की ऊपर और नीचे की नीचे रह गई। वह सुनंदा से मिलकर परिस्थिति से परिचित होना चाहती थी।

रानी के बुलावे से सुनंदा के माथे पर बल पड़ गये। वह घर जाने के लिये अधीर हो रही थी। उसे चिन्ता हो रही थी कि घर वाले उसे घर में न पाकर जाने क्या सोच रहे होंगे? बात भी ठीक थी। विवाह से पहले दिन वधू का दिन भर घर से बाहर घूमते रहना उचित प्रतीत नहीं होता। पर वह क्या करे? रानी के बुलावे का अनादर वह नहीं कर सकती थी। सुनंदा मंजरी के साथ अंतःपुर में चली गई।

महाराजा ने दूर खड़े दास-दासियों और कर्मचारियों की ओर दृष्टि घुमाकर भर्राए गले से कहा, "विवाह की तैयारियाँ बंद कर दो। कल विवाह नहीं होगा।"

महाराजा की अकस्मात आश्चर्यजनक घोषणा से राजप्रासाद में एकदम सन्नाटा छा गया। सब कोई एक दूसरे के मुख की ओर देखने लगे। आनंद और उल्लास का वातावरण एकदम उदासीनता और नीरसता में परिणत हो गया।

जब सुनंदा राजप्रासाद से लौट कर भवन पहुँची, तो सूर्यास्त का समय हो रहा था। सेनापति इंद्रसेन चिन्तित भाव से भवन के प्रांगण में टहल रहे थे। सुनंदा की गाड़ी देख कर उनकी

चिन्ता जाती रही।

सुनंदा महाराजा का पत्र हाथ में लिये हँसती हुई गाड़ी से उतरी। प्रसन्नता में विभोर होकर भावावेश में सुनंदा पिता से लिपट कर बोली, "पिताजी, मैं बच गई।"

सेनापति ने सुनंदा को बाएं हाथ से अपनी छाती से लगाये रखा और दाहिने हाथ से सुनंदा के हाथ से पत्र लेकर देखा, तो हर्षभरित हो कहा, "मैं प्रसन्न हूँ कि प्रतिष्ठापूर्वक यह नाता टूट गया।" फिर सुनंदा के मुख की ओर देख कर बोले, "तो तुम राजप्रासाद में गई थी?"

"हाँ।" सुनंदा ने पिता से अलग होते हुए प्रसन्न स्वर में कहा।

"हम सब चिन्ता से व्याकुल हो रहे थे। शीलभद्र के भवन और कला-मंदिर में तुम्हारी खोज की गई थी। तुम राजप्रासाद में होगी, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सके। अच्छा, जो कुछ हुआ ठीक हुआ।" इतना कह कर सेनापति ने उपस्थित व्यक्तियों की ओर देख कर कहा, "विवाह की तैयारियाँ बन्द कर दो। विवाह नहीं होगा।"

भवन का सारा वातावरण एकदम बदल गया।

रात को सुनंदा अपने पलंग पर लेट कर कल प्रातःकाल शील-भद्र से मिलने की सुखद कल्पना में विभोर होती हुई सुख की नींद सो गई।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

मङ्गल प्रभात ! अरुणोदय हो चुका था । शीलभद्र के भव । पर हल्की, सुनहरी और मीठी धूप पड़ रही थी । भवन के प्रांगण में शीलभद्र को बिदा करने के लिये उसके सम्बन्धियों, इष्ट-मित्रों और सेवक-सेविकाओं की भीड़ एकत्रित हुई थी । सब के मुख पर गांभीर्य-मिश्रित उदासीनता दिखाई दे रही थी । एक सेवक शीलभद्र का घोड़ा थामे खड़ा था । घोड़े पर दो कंबल, कुछ कपड़े, कुछ रसोई के बर्तन, और चित्रकारी का कुछ सामान व्यवस्थित रूप से लदा हुआ था । तलवार और एकतारा भी घोड़े पर यथोचित रूप में बंधे हुए लटक रहे थे । शीलभद्र मंगल प्रभात में ही अपनी मंगल यात्रा प्रारंभ करना चाहता था ।

सुशीला और चन्द्रकान्त के साथ शीलभद्र भवन से निकल कर प्रांगण में आया । उसके कुरूप मुख-मण्डल पर संयम जनित आभा और गांभीर्य-मिश्रित प्रसन्नता झलक रही थी । सादा वेश और कुरूप मुख पर दाढ़ी मूंछ के कारण वह साधु सा लग रहा था । वह अभिवादन और प्रत्याभिवादन करता हुआ प्रांगण के द्वार पर आया । कइयों ने उसको पुष्पमालाएं पहिनाईं । कई गले लगा कर मिले । शीलभद्र ने झुक कर सुशीला के चरण छुए । सुशीला की आँखों से आँसू बह रहे थे । उसने प्रेमपूर्वक शीलभद्र को गले लगाया और उसके सिर पर अपना ममतामय हाथ फेरा ।

फिर शीलभद्र ने चन्द्रकान्त को आलिंगन में लेकर उसके रुदन करते हुए मुख को प्रेम से चूम लिया और कहा, "चन्द्रकान्त, अब तुम छोटे नहीं हो, सामंत हो। तुम्हें रोना नहीं चाहिए।"

चन्द्रकान्त ने रोते हुए ही झुक कर शीलभद्र के पैर छुए। सेवक को द्वार के बाहर मार्ग पर ले आया। घोड़े के पास जाकर शीलभद्र ने फिर सब को अभिवादन कर गंभीर स्वर में कहा, "मैं आप सब के प्रेम के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ और आप सब से आशीर्वाद चाहता हूँ, जिससे मैं गुरुदेव के चरण-चिह्नों का अनुसरण कर सकूँ।" इतना कह कर वह घोड़े पर सवार हो गया।

सुशीला ने रोते हुए कहा, "भैया, जल्दी आ जाना। ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे।"

"हाँ, मैं जल्दी आने का प्रयत्न करूँगा।" यह कह कर शीलभद्र ने घोड़े को एड़ी लगाई। घोड़ा फुदकता हुआ चल पड़ा। सब लोग जाते हुए शीलभद्र की ओर आँखों से ओझल हो जाने तक देखते रहे।

उसी समय सुनंदा की गाड़ी शीलभद्र के भवन के सामने आकर रुकी। सुनंदा के आगमन से सभी को आश्चर्य हुआ। विवाह के स्थगित होने का समाचार सब सुन चुके थे। सुशीला, चन्द्रकान्त आदि को उदास खड़े देख कर सुनंदा के हृदय पर वज्रपात सा हुआ। उसने गाड़ी में बैठे हुए ही व्यग्र स्वर में सुशीला से पूछा, "क्या वह चले गये ?"

सुशीला ने आँचल से अपने आँसू पोंछते हुए कहा, "हाँ, अभी-अभी गये हैं। वह कला-मन्दिर होकर जायेंगे। गमन-मार्ग उसी ओर है।"

निराशा में क्षीण आशा की किरण चमक उठी। सुनंदा ने

शीघ्रतापूर्वक घबराहट के स्वर में गाड़ीवान से कहा, "गाड़ी जितनी जल्दी चला सकते हो, चलाओ।"

गाड़ी तेज गति से चल पड़ी। सुनंदा के हृदय में उथल-पुथल हो रही थी। यदि शीलभद्र मिल न सका तो ?—इस कल्पना से उसका चित्त अस्थिर हो रहा था। वह पछता रही थी कि प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व ही वह क्यों न चली आई ? सूर्योदय होते ही शीलभद्र चल देगा, इसकी उसने कल्पना तक नहीं की थी। उसने सोचा था कि कम से कम दिन का पहला प्रहर बीतने के बाद ही शीलभद्र जायेगा। उसे लग रहा था कि शीलभद्र जैसे उसके हाथ में आते-आते हाथ से निकल गया। उसका हृदय हाहाकार कर उठा और फिर बैठ सा गया। उसकी चेतना जैसे लुप्त होती जा रही थी। गाड़ीवान गाड़ी को जितनी तेज चला सकता था, चला रहा था, पर सुनंदा को वह गति बहुत ही धीमी प्रतीत हो रही थी। वह कला-मंदिर की दिशा की ओर, यद्यपि दूर होने से वह नजर नहीं आ रहा था, आँखें फाड़-फाड़ कर देख रही थी। जब कला-मंदिर दृष्टि-पथ में आया, तो वह खूब ध्यान से उसे देखने लगी। शीघ्र ही उसे कला-मंदिर के प्रांगण में शीलभद्र का घोड़ा खुला खड़ा नजर आया, तो उसके हृदय की कली एक दम खिल गई। प्रसन्नता से हृदय उछल पड़ा। उसे लगा कि उसकी दौड़धूप और त्याग-तपस्या सफल हो गई। उसने गाड़ीवान से कहा, "गाड़ी खड़ी करो।"

गाड़ी रुक गई। सुनंदा ने गाड़ी से उतर कर कहा, "मेरे लौटने तक तुम यहीं ठहरो।" इतना कह कर सुनंदा शीघ्रतापूर्वक कला-मंदिर की ओर बढ़ी।

गाड़ीवान को सुनंदा की गति-विधि पर आश्चर्य हो रहा था। वह सोच रहा था—गाड़ी सदा कला-मंदिर के प्रांगण में जाकर

रुकती है और आज यहाँ क्यों ? कला-मंदिर वहाँ से लगभग तीन सौ गज से अधिक अंतर पर था। गाड़ीवान बेचारा क्या जाने कि सुनंदा शीलभद्र से एकान्त में मिलना चाहती है।

जब सुनंदा कला-मंदिर के प्रांगण में पहुँची, तो देखा कि शीलभद्र वाटिका से तोड़ कर लाये हुए पुष्प आचार्य की समाधि पर चढ़ा रहा है। सुनंदा अपनी कृतघ्नता को बुरी तरह अनुभव करने लगी। उसका हृदय अपने प्रति अश्रद्धा से और शीलभद्र के प्रति प्रेम और श्रद्धा से एक साथ भर आया। उसकी आँखों में पश्चाताप के आँसू छलछला आये। पुष्प चढ़ाने के पश्चात् जब शीलभद्र समाधि पर सिर रख कर प्रणाम कर रहा था, उसी समय रुँधे हुए कंठ से "शीलभद्र !" कह कर पश्चाताप के भाव से भरी हुई सुनंदा भावावेश में शीलभद्र के चरणों पर गिर पड़ी।

शीलभद्र चौंक उठा। और फिर सिर उठा कर देखा, तो वह विस्मय से स्तब्ध सा रह गया। फिर बोला, "कौन, सुनंदा ! तुम यह क्या कर रही हो ? कुरूपता के चरणों पर सौन्दर्य को गिरा कर तुम कुरूपता का उपहास और सौन्दर्य का अपमान कर रही हो।"

"ऐसा न कहो, शीलभद्र !" शीलभद्र के चरणों पर दोनों हाथ रख कर ऊपर उसकी ओर देखते हुए सुनंदा ने काँपते हुए स्वर में कहा, "मैं तुम्हारी कुरूपता का उपहास नहीं, सन्मान करने आई हूँ। मैं अपने सौन्दर्य को अपमानित नहीं, कृतार्थ करने आई हूँ। मुझे क्षमा कर दो, शीलभद्र !" इतना कह कर वह खड़ी हो गई।

"सुनंदा !" शीलभद्र सुनंदा के मुख पर स्थिर दृष्टि गड़ा कर रौद्र-गंभीर स्वर में बोला, "तुम्हारे और मेरे प्रेम-नाटक के अंतिम अंक का अंतिम परदा गिर चुका है। प्रेम-नाटक समाप्त हो गया। अब युवराज से नाता तोड़ कर मुझे पथ-भ्रष्ट करने के लिये मेरे पास क्यों आई हो ?"

"ऐसे कठोर न बनो, शीलभद्र !" सुनंदा ने रुआँसी होकर कहा, "मुझे स्वीकार कर लो । मैं तुम्हारे चरणों में आत्म-समर्पण करने आई हूँ । मेरी यह देह तुम्हारी है । मैं तुम्हारी हूँ । तुम उदार हो । मेरे अपराध क्षमा कर दो ।"

शीलभद्र ने ऊपर आकाश की ओर देख कर एक दीर्घ निश्वास छोड़ा, "सुनंदा, मैं तुम्हारे सौन्दर्य का बोझ वहन करने में असमर्थ हूँ । मैं अपनी कुरूपता को दैव का अभिशाप नहीं, ईश्वर का वरदान मानता हूँ । मैं किसी स्त्री को इस ईश्वरीय वरदान का उपहास और अपमान करने का अवसर नहीं देना चाहता । अब मेरे जीवन में पत्नी के नाते किसी स्त्री का स्थान नहीं हो सकता ।"

"इतने निर्मम न बनो, शीलभद्र !" सुनंदा के गले में रुलाई उमड़ रही थी, "तुम्हीं ने कहा था—सौन्दर्य सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं । मेरे नारी-हृदय की सारी भावनाएं तुम में केन्द्रित हो चुकी हैं । तुम्हारी कुरूपता मेरे लिये संसार का सर्वोच्च सौन्दर्य है, आकर्षण है । तुम्हारी कुरूपता का अपमान और उपहास मुझ से कभी नहीं होगा, इतना विश्वास रखो । मनुष्य से गलती हो जाती है, पर गलती को गलती मान कर उसको सुधारने वाला मनुष्य क्षमा और दया का पात्र है । तुमसे क्षमा-याचना करती हूँ, दया का दान माँगती हूँ । मेरा तिरस्कार न करो, शीलभद्र ! मैं सदा-सदा तुम्हारी हूँ । मुझे अपना लो । मुझे अपनी बना लो, शीलभद्र !"

शीलभद्र ने सामने क्षितिज की ओर शून्य दृष्टि से देखते हुए कुछ क्षण तक आँखें बंद कीं और फिर आँखें खोल कर कहा, "मोह-जाल हट गया । सुनंदा, पत्नी रूप में तुम्हारे सौन्दर्य का स्वागत मैं नहीं कर सकता । अब तुम जा सकती हो और मैं भी जाता हूँ ।" इतना कह कर शीलभद्र घोड़े की

ओर जाने लगा, तो सुनंदा शीलभद्र के पैरों पर लोट गई और सिसक-सिसक कर रोते हुए बोली, "शीलभद्र, तुम मुझसे रूठ गये हो। क्या मन में मान किये हो? मुझे बताओ कि मैं तुम्हें कैसे मनाऊँ? मैं तुम्हारे चरणों की दासी हूँ। निश्चित जानो, तुम्हारे बिना मैं जी न सकूँगी। शीलभद्र, मुझे अपनी बना लो। (दाहिना हाथ उठा कर) मेरा पाणि-ग्रहण करो। गुरुदेव की समाधि के सामने हमारा गाँधर्व-विवाह हो जाय। मुझे अपनी सहधर्मिणी बना लो।"

"मुझे अपने सौन्दर्य का प्रलोभन न दिखाओ, सुनंदा।" मैं जिस मार्ग पर जा रहा हूँ, उस पर तुम बाधा बन कर खड़ी हो, पर मैं तुम्हें अपना नहीं सकता। तुम हट जाओ और मुझे जाने दो।"

"मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी," सुनंदा ने शीलभद्र के पैर जोर से पकड़ कर उसकी ओर करुण दृष्टि से देखते हुए करुण स्वर में कहा, "नहीं जाने दूँगी। मैं तुम्हें कैसे बताऊँ, शीलभद्र, कि मैं तुम्हारे बिना नहीं जी सकती। लौट चलो, शीलभद्र! तुम मुझे भले ही छोड़ दो, पर मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकती। मैं मर कर भी दिखा दूँगी कि मैं तुम्हारी हूँ।"

शीलभद्र गरज कर बोला, "सुनंदा, तुम मर्यादा का अतिक्रमण कर रही हो। मुझे रोक रखने की शक्ति तुम खो बैठी हो। मुझे अपने मार्ग से तुम विचलित नहीं कर सकती। मेरे पैर छोड़ दो।"

"मैं नहीं छोड़ूंगी। तुम लौट चलो।"

"जबर्दस्ती न करो, सुनंदा।"

"तुम मुझे मार डालो। तुम्हारे हाथ से मरने में भी मैं अपना सौभाग्य समझूँगी, पर मैं तुम्हें नहीं छोड़ूंगी।"

"मार्ग की बाधा को हटा देने की पर्याप्त शक्ति शीलभद्र में विद्यमान है।" इतना आवेश में कह कर शीलभद्र ने बलपूर्वक

अपने को सुनंदा के हाथों से छुड़ा लिया और शीघ्रतापूर्वक जा कर घोड़े पर सवार हो गया।"

सुनंदा शीलभद्र के बल-प्रयोग से छाती के बल गिर पड़ी थी। उसने उठ कर वेदना-भरे नेत्रों से शीलभद्र की ओर देखा, "जो गलती मैंने की थी, वही गलती तुम भी कर रहे हो, शीलभद्र!"

"तुम ऐसा कह सकती हो। मैं इसका प्रतिवाद नहीं करता।" शीलभद्र ने कोमल स्वर में कहा, "सुनंदा, बल-प्रयोग के लिये मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ। मैं विवश था। अच्छा, बिदा!" इतना कह कर शीलभद्र ने घोड़े को एड़ी लगाई। घोड़ा चल पड़ा।

निश्चल बैठी सुनंदा शून्य दृष्टि से जाते हुए शीलभद्र की ओर आँखों से ओझल हो जाने तक देखती रही।

बाईसवाँ परिच्छेद

'घायल की गति घायल जाने।' शीलभद्र द्वारा की गई अप्रत्याशित उपेक्षा की मर्मान्तक चोट से घायल सुनंदा के दुःख का कोई ओर-छोर न रहा। उसका जीवन आह और आँसुओं की एक कहानी बन गया। वह सदा उदास रहती और एकान्त में प्रायः रो पड़ती। शीलभद्र के कठोरतापूर्ण परित्याग का दृश्य आँखों के सामने आते ही उसका कोमल हृदय हाहाकार कर उठता और वह विवश होकर रो पड़ती। इसका सुनंदा के स्वास्थ्य और मस्तिष्क पर घातक परिणाम हुआ। वह रुग्ण हो गई और उसकी अवस्था दिन प्रतिदिन बिगड़ती ही जा रही थी। वह क्षीणकाय हो गई थी और पीली पड़ गई थी। मस्तिष्क कुछ विकृत सा हो जाने से वह जागृतवस्था या स्वप्नावस्था में कभी-कभी ऊँचे स्वर से प्रलाप कर उठती और उस प्रलाप में शीलभद्र के प्रति प्रेम और मिलन की उत्कट अभिलाषा का प्रकटीकरण होता। सेनापति इंद्रसेन प्रत्येक संभव उपाय से सुनंदा का स्वास्थ्य और मस्तिष्क ठीक करने के लिये प्रयत्नशील थे।

दिन का तीसरा प्रहर बीत चुका था। घर के संगीत-कक्ष में रुग्ण-शय्या पर तकिए के सहारे अधलेटी सी सुनंदा अश्रुपात करते हुए वेदना-भरे नेत्रों से सामने दीवार पर टंगे हुए शीलभद्र के चित्र को एकटक देख रही थी। फिर उसने आँचल से अपने

आँसू पोंछे और नेत्र बन्द कर वह पड़ी रही।

कुछ समय के पश्चात सेनापति इन्द्रसेन राजवैद्य के साथ संगीत-कक्ष में आये। उनके पीछे सुधा और एक सेविका भी आई। सुनंदा के पलंग के पास राजवैद्य को आसन पर बिठा कर सेनापति ने धीमे स्वर में पुकारा, "सुनंदा!"

सुनंदा ने नेत्र खोले और संभल कर बैठ गई।

सेनापति ने कहा, "राजवैद्य आये हैं। अपना बाँया हाथ दिखाओ।"

सुनंदा ने अपना बाँया हाथ आगे किया और राजवैद्य के मुख की ओर स्थिर दृष्टि से देखने लगी। राजवैद्य ने नाड़ी-परीक्षा कर कहा, "जीभ दिखाइये।"

सुनंदा ने मुख फैला कर जीभ बाहर निकाली।

"ठीक है।" यह कह कर राजवैद्य ने अपने थैले में से एक डिबिया निकाली और उसमें से पांच गोलियाँ निकाल कर सेनापति को देते हुए कहा, "प्रतिदिन प्रातःकाल एक गोली गौ के गरम दूध के साथ दिया करें। मैं फिर देख जाऊँगा।" इतना कह कर वह उठे। गोलियाँ सेविका को देकर सेनापति राजवैद्य के साथ संगीत-कक्ष से बाहर चले गये।

सुनंदा एकाएक जोर से अट्टहास कर उठी। वह अट्टहास मस्तिष्क की विकृति-जनित था। सुधा ने चकित हो सुनंदा की ओर बड़े गौर से देखा, "दीदी, यह तुम ऐसी क्यों हँस रही हो? ऐसी हँसी न हँसो, दीदी!"

"हँसने योग्य बात है, सुधा, इसीलिये तो हंस रही हूँ।" सुनंदा ने विकृत रूप में हँसते हुए ही कहा।

सुधा समझ गई थी कि यह रोग-जनित हँसी है, स्वाभाविक नहीं। उसे सुनंदा की हँसी भयंकर प्रतीत हुई। उसने फिर आग्रह

पूर्वक कहा, "ऐसी हँसी न हँसो, दीदी !"

"तो क्या रोऊँ ?"

"न रोओ, न हँसो । तुम्हारी हँसी तुम्हारे रोने से भी अधिक करुणाजनक है और भयानक भी है । ऐसी हँसी मुझे अच्छी नहीं लगती । पहले की हँसी तो तुम भूल ही गई हो, दीदी !"

"सुधा, हँसी की बात पर ही तो मैं हँसती हूँ । अभी पिताजी राजवैद्य को लेकर आये थे । राजवैद्य ने मेरा हाथ देख कर नाड़ी परीक्षा की और मेरे लिये औषधि दी ।" इतना कह कर सुनंदा विकृत रूप में फिर खिलखिलाकर हँस पड़ी ।

"तो इसमें हँसी की क्या बात है, दीदी ?"

"बड़ी हँसी की बात है, सुधा ! गिरिधर गोपाल की विरह-वेदना से मीरा बीमार हो गई थी । तब उसके पिता वैद्य को बुला लाये । वैद्य ने मीरा का हाथ देख कर उसको औषधि दी । तब जानती हो, मीरा ने क्या कहा था ?"

"क्या कहा था ?" सुधा ने उत्सुकतापूर्वक जिज्ञासू भाव से पूछा ।

सुनंदा एकदम गंभीर हो गई और उसके मुरझाए मुख पर वेदना छा गई । वह कोमल तथा करुणा स्वर में गाने लगी—

बाबल बैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बांह ।
मूरख बैद मरम नहिं जाणे, कसक कलेजे मांह ॥
जा बैदा घर आपणे रे, म्हारो नांव न लेय ।
मैं तो दाझी विरह की रे, काहे को औषध देय ॥

गीत समाप्त कर सुनंदा ने अपने आँसू पोंछे ।

सुधा ने व्यथित स्वर में कहा, "दीदी, तुम कभी रोती हो तो कभी हँसती हो । हँसती भी ऐसी हो कि उससे रोना ही

अच्छा। तुम्हें क्या हो गया है, दीदी ?"

"मुझे क्या हो गया है, यह तुम नहीं समझ सकती, सुधा !" इतना उदास स्वर में कह कर सुनंदा ने सेविका की ओर देखा "मेरी शय्या बाहर बिछा दी है ?"

"बिछा दी है।" सेविका ने विनीत भाव से कहा।

"तो बाहर चलूंगी।" इतना कह कर सुनंदा पलंग के नीचे उतरने का उपक्रम करने लगी। सेविका और सुधा ने दोनों ओर से सुनंदा की भुजाओं को पकड़ कर सहारा देना चाहा, तो सुनंदा ने कहा, "नहीं, तुम्हारी सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयं ही चली चलूंगी। अभी इतनी शक्ति शेष है।" यह कह कर सुनंदा कठिनाई से पलंग के नीचे उतरी और सुधा के कंधे पर हाथ रख धीरे-धीरे भवन के पिछवाड़े जाकर स्फटिक-निर्मित मंच के निकट खुले स्थान पर बिछे हुए पलंग पर तकिए के सहारे अधलेटी सी बैठ गई। सुधा ने वाटिका से चमेली, मोगरा, बेला हरसिंगार आदि के विकसित तथा सुगंधित पुष्प लाकर सुनंदा के पलंग पर रख दिये। सुनंदा ने प्रेमपूर्वक सुधा को आलिंगन में लेकर उसके सिर पर हाथ फेरते हुए स्नेह-सिक्त स्वर में कहा, "मेरी प्यारी बहन, तुम कितनी अच्छी हो ! मेरी कितनी सेवा करती हो ?"

सुधा की आंखें भर आईं। वह सुनंदा से अलग होकर स्फटिक मंच पर बैठ गई। सुनंदा पुष्प हाथ में लेकर सूंघने लगी। उसी समय शीलभद्र की बहन सुशीला ने आकर सुनंदा को अभिवादन किया। सुनंदा ने प्रत्याभिवादन करते हुए सस्मित कहा, "आइये, आपके आने से मेरे चित्त को कुछ शांति मिलती है। बैठिये।"

पलंग पर बैठते हुए सुशीला ने पूछा, "स्वास्थ्य कैसा है ?"

"स्वास्थ्य तो दिन प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है।" सुनंदा ने निराश स्वर में कहा, "इसका परिणाम मृत्यु ही हो सकता है। उनके (शीलभद्र के) दर्शन की अधीर अभिलाषा मेरे चित्त को अस्थिर बनाये रहती है। जीवन की अन्तिम अभिलाषा पूरी होगी, अथवा अधूरी ही रह जायेगी, मैं नहीं जानती।"

"ऐसा न कहिये।" सुशीला ने आँचल से अपने आँसू पोंछते हुए भरे गले से कहा, "आपकी उपेक्षा कर भैया ने अच्छा नहीं किया। उनके आने के पश्चात् सब कुछ ठीक हो जायेगा।"

"आपके भैया का कोई दोष नहीं है। दोष तो मेरा ही था और उसका दण्ड मुझे मिल रहा है।"

"आपका दोष, यदि उसे दोष माना जाय तो, साधारण तथा स्वाभाविक था और उसका भी परिहार कर आप निर्दोष हो गई हैं। निर्दोष को दण्ड मिलना उचित नहीं है। भैया शीघ्र ही वापिस आ जायें, तो बिगड़ी बात अब भी बन सकती है। भैया का स्वभाव इतना कठोर नहीं है। वह बहुत ही कोमल तथा भावुक है। आपसे उनका कितना अधिक प्रेम था, मैं अच्छी तरह से जानती हूं।"

"परंतु उनके विराग ने उनके और मेरे अनुराग को परास्त कर दिया है।"

"विराग ने अनुराग को परास्त किया, तो अनुराग भी विराग को परास्त कर सकता है। संसार में अनुराग का ही एकछत्र साम्राज्य है। विराग की विजय तो अपवादात्मक रूप में ही होती है। यह सब बातें मानसिक अवस्था तथा बाह्य परिस्थिति पर निर्भर करती हैं। ईश्वर करे, आपका फिर मिलन हो।"

"ईश्वरेच्छा बलीयसी!" एक दीर्घ निश्वास छोड़ कर सुनंदा ने विषण्ण अस्फुट स्वर में कहा।

"अच्छा, अब जाऊंगी । सूर्यास्त का समय हो रहा है।" सुशीला ने उठ कर सुनंदा को अभिवादन करते हुए कहा ।

सुनंदा ने प्रत्यभिवादन कर आग्रह पूर्वक कहा, "आया करें । आपको देख कर मेरे व्याकुल भग्न-हृदय को कुछ धैर्य प्राप्त होता है ।"

"मैं तो आपको अपनी भाभी समझती हूं । दुःखी भाभी को धीरज देना मेरा कर्तव्य है । मैं प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल आया करूंगी ।" यह कह कर सुशीला चली गई ।

शुक्लपक्ष की चतुर्दशी के चन्द्रमा की शुभ्र ज्योत्स्ना से सुनंदा के भवन का पिछवाड़ा क्षीर सा धवल हो उठा । रजनीगंधा के पुष्पों की सुगंध से वातावरण व्याप्त हो गया । बड़ी ही सुहावनी चांदनी रात थी । परन्तु व्यथित-हृदया सुनंदा अपने जीवन के करुणाजनक प्रेमान्त पर विचार करते-करते जैसे वेदना में खो गई थी । तभी उसने सुना, "सुनंदा, दूध पी लो बेटी !"

माता की ममतामयी वाणी सुन कर सुनंदा की विचार-तन्द्रा भंग हुई और उसने हाथ में दूध का प्याला लिये पलंग के पास खड़ी माता की ओर दृष्टिपात किया, "मां, मुझे थोड़ा दूध दो । तुम तो इतना बड़ा प्याला भर के लाती हो ।"

"इतना दूध अधिक नहीं है, बेटी !" माता ने सुनंदा के हाथ में दूध का प्याला देते हुए ममता-भरे स्वर में कहा, "पी जाओ ।"

सुनंदा दूध पी गई और प्याला माता के हाथ में दे दिया । माता ने कहा, "यहीं पर सोओगी या ऊपर छत पर शय्या बिछवाऊं ?"

"यहीं ठीक है ।"

उसी समय सेनापति इन्द्रसेन भी आये और स्फटिक-निर्मित मंच पर बैठ कर सुनंदा की माता से बोले, "राजवैद्य ने आज

सुनंदा को देखा था। उन्होंने कहा कि सामंत शीलभद्र के शीघ्राति-शीघ्र आ जाने से ही सुनंदा की अवस्था में सुधार हो सकता है। परन्तु सामंत शीलभद्र की खोज कैसे की जाय? मैंने चन्द्रकांत से पूछा, तो उनसे केवल इतना ही मालूम हो सका कि सामन्त अजन्ता, एलोरा, सारनाथ, कांची, आगरा आदि स्थानों की यात्रा करना चाहते थे। इससे अधिक वह कुछ भी बता न सके। युवराज ने इन पाँच स्थानों की ओर पांच घुड़सवारों को आज सायंकाल ही रवाना कर दिया है। पर इतने बड़े विशाल देश में एक प्रवासी व्यक्ति की खोज करना असंभव है। सामंत शीलभद्र स्वयं ही आ जायें, तो बात दूसरी है।"

सुनंदा की माता ने चकित होकर पूछा, "क्या युवराज ने सामंत की खोज के लिये घुड़सवारों को भेजा?"

"हां, क्या तुम्हें इस बात पर आश्चर्य हो रहा है? युवराज ने तो मुझसे यह भी कहा कि सामंत शीलभद्र आ जायें, तो मैं उन्हें विवश कर दूँगा कि वह सुनंदा से विवाह करें। युवराज सुनंदा की अवस्था पर दुःखी है। उसने कहा कि सुनंदा का शीलभद्र के प्रति प्रेम देख कर मैं जीवन में पहली बार समझ पाया हूँ कि प्रेम वास्तव में क्या है? वह तो और घुड़सवारों को भी भेजना चाहता था, पर व्यर्थ समझ कर मैंने ही रोक दिया।

सुनंदा के पलंग पर बैठ कर उसकी माता ने चिन्तित स्वर में कहा, "यदि सामंत शीघ्र नहीं लौटे तो?"

"मनुष्य केवल प्रयत्न और पुरुषार्थ कर सकता है, फल ईश्वराधीन है। चिन्ता करने से तो दुःख दूर नहीं हो सकता।" इतना कह कर सेनापति ने सुनंदा से कहा, "सुनंदा, वायु-परिवर्तन के लिये किसी पहाड़ी स्थान पर जाकर रहने की इच्छा है?"

"नहीं, पिताजी, आप मेरे लिये चिन्ता न करें।" सुनंदा ने

शांत स्वर में कहा, "जो होना होगा, होगा। मेरे लिये आपको चिन्तित देख कर मुझे बड़ा दुःख होता है। हाँ, कल मुझे कला-मंदिर ले चलिये। मैं अब कला-मंदिर में ही रहना चाहती हूँ। गुरुदेव की समाधि के सहारे रहने से कुछ तो शांति मिलेगी ही। मुझे कल अवश्य कला-मंदिर ले चलिये।"

"कल तुम्हें कला-मंदिर ले चलेंगे। तुम्हारी जो भी इच्छा हो, निस्संकोच मुझसे कहो। तुम्हारी इच्छा की पूर्त्ति करने में मैं कोई कोर-कसर नहीं रखूंगा। हृदय में इतना संतोष तो रहेगा कि मैं सुनंदा की प्रत्येक इच्छा को पूर्ण करता रहा।" यह कहते हुए सेनापति की आँखों में आँसू भर आये।

"पिताजी, आपका मुझ पर कितना प्यार है!" सुनंदा ने भरे गले से कहा, "पर मैं आपको दुःख ही दुःख दे रही हूं।"

"ऐसा न कहो, बेटी!" सेनापति ने रुंधे हुए कंठ से कहा, "तुमने मुझे कोई दुःख नहीं दिया। मैं तो तुम्हें देख कर सदा प्रसन्नतापूर्ण गर्व का अनुभव करता रहा हूँ। मेरे लिये तुम पुत्र थी, सुनंदा, कन्या नहीं।"

माता ने आँचल से आँसू पोंछते हुए कहा, "तो कल से हम सब को कला-मंदिर में ही रहना होगा?"

"हाँ, जब तक सुनंदा के भाग्य का फैसला नहीं होता, तब तक हम कला-मंदिर में ही रहेंगे। सुनंदा की इच्छा सर्वोपरि है।" इतना कह कर सेनापति धीरे-धीरे भवन में चले गये।

और दूसरे दिन सायंकाल सुनंदा के परिवार ने सूनसान पड़े हुए कला-मंदिर को आबाद किया।

तेईसवाँ परिच्छेद

मनुष्य ज्ञान-जनित वैराग्य से, यद्यपि वह दुर्लभ तथा दुस्साध्य है, सब कुछ त्याग कर सकता है। वैराग्य में संयमपूर्ण एक अजेय शक्ति होती है और वह शक्ति सांसारिक भोग के प्रलोभनों के सम्मुख नतमस्तक होना नहीं जानती। परन्तु यह शुद्ध ज्ञान-जनित परिपक्व वैराग्य की बात है, जो बाह्य परिस्थिति-निरपेक्ष होता है। बाह्य परिस्थिति-जनित वैराग्य के आवेग की बात उससे भिन्न है। इस वैराग्य के आवेग में प्रलोभन से पतन की आशंका बनी ही रहती है। यदि कोई अभुक्त भोग, जिसकी मन में अत्यधिक चाहना रही हो और परिस्थिति के फेर में पड़ कर मन को समझाने के लिये विवशतापूर्ण वैराग्य के आवेग में जिसका त्याग किया हो, स्वयं ही चरणों में आ गिरे, तो उस अवस्था में उस संयमी पुरुष का मन डाँवाडोल हो उठता है। प्रकृति बलवती है और मनुष्य प्रकृति या परिस्थिति के हाथ का खिलौना मात्र है। अपनी कुरूपता और सुनंदा द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद—इस बाह्य परिस्थिति से शीलभद्र के भावुक तथा आत्माभिमानी हृदय में एकाएक वैराग्य के आवेग का आविर्भाव हुआ था, परन्तु जब उसकी कुरूपता को ही संसार का सर्वोच्च सौन्दर्य समझ कर उसके चरणों में सुन्दरी सुनंदा करुणापूर्वक

क्षमा-याचना करती हुई पूर्णतया आत्मसमर्पित भाव से आ गिरी, तो शीलभद्र क्या करें ?

वैराग्य के आवेश में मुग्धा सुनंदा की मीठी मनुहार को टाल कर शीलभद्र देश-पर्यटन करने चला तो गया, पर साथ ही वह अपने हृदय में एक अशान्ति—पुरुष की अनिवार्य दुर्बलता भी लेता गया। मार्ग पर सामने से जोर की हवा आती हो, तो मनुष्य को जैसे पूरा जोर लगाकर पीछे की ओर ढकेलती हुई तेज हवा को चीरते हुए आगे बढ़ना पड़ता है और इस प्रकार आगे बढ़ने में वह जो कठिनाई अनुभव करता है, वैसा ही अनुभव शीलभद्र को आगे ही आगे बढ़ने में होता रहा। उसे लगता रहा कि जैसे कोई उसे आगे बढ़ने से रोक रहा है, परन्तु फिर भी संयमी शीलभद्र देश-पर्यटन के विचार को पूर्ण करने के लिये आगे ही आगे बढ़ता रहा।

शीलभद्र की आँखों के सामने रुदन करती हुई सुनँदा की सुन्दर परन्तु करुण आकृति बार-बार आ जाती और उसकी प्रेममयी तथा करुणामयी मनुहार का एक-एक हृदय-द्रावक वाक्य उसके कानों में गूंजता रहता। वह एक वेदना अनुभव करता रहा, पर इसे वह पुरुष-हृदय की दुर्बलता समझ कर उस पर विजय प्राप्त करने का असफल प्रयत्न करता रहा। 'पत्नी के नाते किसी स्त्री का मेरे जीवन में स्थान नहीं हो सकता।'—इस अपने दृढ़ निश्चय पर अटल रहने का वह बार-बार दृढ़-निश्चय करता, पर हर बार उसका निश्चय जैसे धूप से बर्फ की भाँति गलता रहा। वह अपनी कल्पना और स्मरण से सुनंदा को दूर न कर सका।

और इस प्रकार की मनःस्थिति में ही शीलभद्र अजन्ता, एलोरा, कांची, सारनाथ आदि कलापूर्ण स्थानों की यात्रा कर लगभग चार महीनों के पश्चात् आगरा पहुँचा। यमुना में स्नान

कर, नगर की एक धर्मशाला में भोजन बना, खा पीकर उसने थोड़ी देर तक विश्राम किया। फिर वह घोड़े पर सवार होकर ताजमहल की ओर रवाना हो गया।

उस समय दिन का तीसरा प्रहर बीत चुका था। सूर्य की चमचमाती धूप में शुभ्र स्फटिक-निर्मित ताजमहल चमक रहा था। प्रवेश-द्वार के बाहर घोड़े को खुला छोड़ कर शीलभद्र भीतर चला गया। निश्चल खड़ा हो कर वह दूर से ही एक अतृप्त आँख से ताजमहल को देखने लगा। ललित कलाओं में वास्तु कला को सब से निम्न कोटि की निर्धारित करनेवाले साहित्यकारों तथा कला-विवेचकों की बुद्धि पर उसे आश्चर्य हुआ। आचार्य ने जो ताजमहल की प्रशंसा की थी, वह उसे अक्षरशः सत्य प्रतीत हुई। कितना भव्य, पर कितना कला-पूर्ण ! वह आगे बढ़ा। जूते उतार कर वह ताजमहल की चौखट पर चढ़ गया और सूक्ष्म दृष्टि से ताजमहल की कला का निरीक्षण करने लगा। चारों ओर घूम कर वह ताजमहल के वास्तुकार के कला-नैपुण्य तथा रचना-चातुर्य पर चकित हो गया। फिर वह सीढ़ियों से नीचे उतर कर ताजमहल के तलभाग में स्थित प्रेमी युगल शाहजहाँ और बेगम मुमताज की युगल समाधियों को ध्यान पूर्वक देखने लगा।

शीलभद्र को लगा कि स्त्री और पुरुष के प्राकृतिक प्रेम का ताजमहल एक सुन्दर कलात्मक मधुर-मदिर महाकाव्य है, परन्तु बाह्य दृष्टि से कलात्मक, सुन्दर तथा मधुर महाकाव्य में स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक प्रेम का आनंद और उल्लास नहीं है, प्रत्युत बिछुड़े प्रेमी-प्रेमिका के व्यथित-हृदय का हाहाकार है, उनका वेदनापूर्ण करुण क्रन्दन है। परन्तु वह करुण क्रन्दन भी कितना कला-पूर्ण है !

और तभी शीलभद्र की आँखों के सामने करुण क्रन्दन करती हुई सुनंदा की करुण आकृति आ गई। और उसके कानों में

विरहिणी सुनंदा की वेदनापूर्ण वाणी गूँजने लगी। भोली भावना तड़प उठी। शीलभद्र का हृदय भर आया और उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। आँसू पोंछ कर वह सोचने लगा, "युवराज के सौन्दर्य और राज-सिंहासन के ऐश्वर्य को ठुकरा कर सुन्दरी सुनंदा मुझ जैसे कुरूप के चरणों में आ गिरी और गिड़गिड़ाई। अनुनय विनय करने में उसने कोई कोरकसर नहीं रखी। पर मैंने क्या किया? क्या वह उचित था? उसके प्रेम की कद्र न कर मैंने उसको अपमानित किया। वैराग्य का सहारा लेकर प्रतिकूल सुनंदा को भूल जाने में शायद मैं सफलता प्राप्त करता और आंशिक सफलता मुझे मिली भी थी, पर अनुकूल सुनंदा को भूल जाना मेरे वैराग्य के बस की बात नहीं है। जीवन अनुरागमय है। जिस विराग का आधार विवशता है, वह जीवन की स्वाभाविकता को नष्ट कर उसे विकृत तथा कृत्रिम बना देता है। सुनंदा का ख्याल मन में बार-बार उठता है। आखिर ऐसा क्यों? उसका स्पष्ट अर्थ यही है कि मेरा हृदय सुनंदा को अब भी चाहता है। जब चाहना विद्यमान है, तब सुनंदा से अलग रहने का मतलब क्या? सुनंदा के बिना जीवन में एक अभाव सा प्रतीत हो रहा है। और उस अभाव की पूर्ति सुनंदा ही कर सकती है, वैराग्य नहीं। फिर यह आत्म-प्रवंचना क्यों? सुनंदा के बिना जीवन नीरस प्रतीत हो रहा है। जो बात नहीं निभाई जा सकती, उसको निभाने का दुराग्रह क्यों? मेरी कठोरतापूर्ण उपेक्षा का न जाने सुनंदा के भावुक हृदय पर क्या प्रभाव पड़ा होगा? उसने बार-बार कहा था कि वह मेरे बिना जी नहीं सकेगी। पता नहीं, उसकी क्या अवस्था होगी? हाय रे भाग्य! न इधर चैन न उधर चैन। बिदा होते समय सुनंदा ने ठीक ही कहा था, "जो गलती मैंने की थी, वही गलती तुम भी कर रहे हो।" सुनंदा का

कथन अक्षरशः सत्य था। सुनंदा की उपेक्षा कर मैंने गलती की। सुनंदा से विदा होते समय मैं अपनी कठोरता पर गर्व अनुभव कर रहा था, पर आज मैं उस कठोरता पर लज्जित हूँ, दुःखी हूँ।

"बादशाह शाहजहाँ ने मरणोन्मुख प्रेमिका मुमताज की मनुहार का सम्मान कर उसके प्रति प्रेम का प्रतीक तथा स्मारक यह ताजमहल बनाया। उसका हृदय अपनी प्रेमिका के प्रति कितना कोमल था! और मैं इतना कठोर कि.........।" एकाएक दर्शनार्थियों की भारी भीड़ आ जाने से शीलभद्र की विचार-शृंखला टूट गई और वह उदास मन से ऊपर चला आया।

उस समय सूर्यास्त हो रहा था। शीलभद्र ने रात्रि को ताज-महल के सामने की सराय में ही रहने का विचार किया। वह प्रवेश द्वार के बाहर चला आया। घोड़े के दाना-पानी से निवृत्त होकर उसने भी जलपान किया। तब तक पूर्णिमा का चमकता हुआ चन्द्रमा नीलाम्बर में चढ़ कर ताजमहल पर अपनी मनोहर चाँदनी को फैला चुका था। शुभ्र चाँदनी में शुभ्र ताजमहल का मोहक दृश्य शीलभद्र को बड़ा ही आकर्षक प्रतीत हुआ। और वह भीतर जाकर देर तक मंत्र-मुग्ध सा ताजमहल को देखता रहा। उसे लगा कि चन्द्रमा की चाँदनी का सारभूत अंश, घनीभूत होकर अपने अन्तस्तल में बिछुड़े हुए वियोगियों की चिरन्तन विरह-व्यथा को धारण किये हुए, करुण भाव से निश्चल बन कर मौन रुदन कर रहा है। और शीलभद्र का मन सुनंदा में उलझ कर पीड़ा से भर आया। खिन्न मन से वह बाहर चला आया। सराय के सामने हरियाली पर कंबल बिछा कर वह बैठ गया और एकतारा-करताल लेकर अपने प्रेम-विह्वल मन को शान्त करने के लिये उसने एक भजन गाया। पर भजन उसके मन को शान्त न कर सका। वह लेट गया और सोचने लगा, "सुनंदा हार कर

भी जीत गई और मैं जीत कर भी हार गया। यदि सुनंदा कुरूपता के कारण मुझसे नाता न तोड़ती। तो मैं अवश्य ही उस से विवाह करता। सुनंदा से निराश होकर ही मैंने विराग का आश्रय लिया था और सुनंदा के पुनः आत्मसमर्पण से उस विराग का अंत हो जाना चाहिये था, पर आवेग में मैंने सुनंदा की उपेक्षा की—क्यों? सुनंदा के नाता तोड़ने से शायद मेरे हृदय के एक अज्ञात कोने में प्रच्छन्न रूप में सुनंदा के प्रति क्रोध का भाव उत्पन्न हुआ और यह क्रोध ही वैराग्य का उत्पादक बना। हाँ, बात तो ऐसी ही है। तभी तो क्रोध-मिश्रित विराग के आवेश में मैंने आत्मसमर्पित सुनंदा को अपमानित किया। क्रोध एक विकार है और मेरा वैराग्य विकार-जनित था। विराग का कारण विकार—कैसी विचित्र बात है? जिस विराग का आधार विकार हो, क्या वह विराग निर्विकार हो सकता है? हर्गिज नहीं। परन्तु इसका एक दूसरा पहलू भी है। यदि सुनंदा मुझसे सदा के लिये अलग हो जाती, तो क्या उस अवस्था में भी मेरा वैराग्य विकृत ही बना रहता? नहीं, उस अवस्था में मेरा विकार-जनित वैराग्य कीचड़ से उत्पन्न कमल की तरह शोभायमान हो जाता। क्योंकि उस अवस्था में आत्म-गौरव की रक्षा और मन की शान्ति के लिये मुझे वैराग्य के सिवा और कोई मार्ग ही शेष नहीं है। परन्तु सुनंदा के मेरे चरणों में आकर गिरने से बात ही दूसरी हो गई। वैराग्य की जड़ ही उखड़ गई है। तभी तो सुनंदा का बार-बार स्मरण हो आता है। और इसका अर्थ है सुनंदा से अनुराग। अनुराग के होते हुए विराग कैसा? मेरे विराग के आवेग ने अनुराग पर आंशिक विजय प्राप्त की थी, परन्तु अब अनुराग का आवेग विराग पर पूर्णतया विजय प्राप्त कर रहा है। अनुराग रसमय है, विराग शुष्क। अनुराग

में अपनापन होता है और विराग में विस्मरण। मुझे लग रहा है कि जैसे सुनंदा मेरी ही है और मैं उसका ही हूँ। कैसी आत्मीयतापूर्ण मधुर भावना है !" और इस प्रकार सोचते-सोचते शीलभद्र सो गया।

शीलभद्र ने स्वप्न देखा, "समुद्र के किनारे रेत पर वह बैठा है और शुभ्र वस्त्र-धारिणी क्षीण-काया तथा पीत वर्ण सुनंदा दूर से उसकी ओर आ रही है। निकट आकर सुनंदा ने वेदना पूर्ण स्वर में उससे कहा, "शीलभद्र, जो गलती मैंने की थी, वही गलती तुम भी कर रहे हो। तुम मन में मान किये हो। मैंने तुम्हें लाख मनाया, पर तुम नहीं माने। मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकती, इस मेरी बात को तुमने सच नहीं माना। अब मैं मर कर प्रमाणित कर दूँगी कि मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकती। मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं है। सब दोष मैं अपना ही मानती हूँ। जीवित सुनंदा को तुम क्षमा न कर सके, पर मैं आशा करती हूँ कि मेरी मृत्यु के पश्चात् तुम मुझे अवश्य ही क्षमा कर दोगे !" इतना कह कर सुनंदा ने शीलभद्र के चरण छुए और वह दौड़ती हुई समुद्र की ओर बढ़ी। शीलभद्र चकित होकर उसे बैठा देखता रहा। जब सुनंदा घुटनों तक पानी में पहुँची, तो शीलभद्र उच्च स्वर में चिल्लाया, "सुनंदा, पीछे लौटो।" सुनंदा ने शीलभद्र की ओर देख कर करुण स्वर में कहा, "मेरे रोने-गिड़गिड़ाने पर भी तुम पीछे नहीं लौटे, तो अब मैं ही पीछे कैसे लौट सकती हूँ ? मेरे पीछे लौटने का समय बीत गया। अब पीछे लौटना मेरे बस की बात नहीं है। अब तो आगे ही चलना है—मृत्यु की ओर। मृत्यु मुझे और ईश्वर तुम्हें शान्ति प्रदान करे।" यह कह कर सुनंदा समुद्र में आगे बढ़ी। घबराया हुआ शीलभद्र सुनंदा को बचाने के लिये समुद्र की ओर दौड़ा, पर सुनंदा लहरों पर ऊपर उठ कर समुद्र के अन्तस्तल में एकदम

अदृश्य हो गई। और शीलभद्र के मुख से एक दर्दीली चीख सी निकल गई।"

और तभी शीलभद्र की आँखें खुलीं। स्वप्न की घबराहट उसके हृदय में व्याप्त थी। अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय काँप उठा। वह उठ बैठा। चित्त अस्थिर हो रहा था। वह मथुरा, वृन्दावन और दिल्ली जाना चाहता था, पर अब उसने शीघ्रातिशीघ्र सीधे राजनगर जाने का निश्चय किया।

उस समय पौ फटने का समय हो गया था। शीलभद्र कुछ देर तक उदास भाव से यूंही बैठा रहा। फिर घोड़े का दाना-पानी कर वह नित्य-कर्मों से निवृत्त हुआ और घोड़े पर सवार होकर आगरा की ओर चल पड़ा। आगरा में जलपान कर और कुछ आवश्यक वस्तुएं खरीद कर वह घोड़े पर सवार हुआ और राजनगर की दिशा की ओर उसने घोड़े को सरपट दौड़ाया।

चौबीसवाँ परिच्छेद

कला-मंदिर में निवास के उद्देश्य से आने के पश्चात् सुनंदा की जीवन-शक्ति दिन-प्रतिदिन क्षीण होती चली गई। भीतर गढ़े में धुसी अपनी आँखों और हड्डियों के माँस रहित ढांचे को लिये वह मृत्यु के निकट पहुँच गई। आज दोपहर को राजवैद्य ने देख कर कहा था कि अब सुनंदा के जीवन की कोई आशा नहीं है। वह मृत्यु की गोद में है और प्राणान्त निकट है।

दिन का तीसरा प्रहर बीत चुका था। कला-मंदिर की चित्र-शाला में सुनंदा मृत्यु-शय्या पर लेटी पड़ी थी। आँखें उसकी बंद थीं। सिरहाने बैठ कर सुशीला पंखे से उसको धीरे-धीरे हवा कर रही थी। शय्या के सामने सुनंदा की माता, सेनापति, सुधा आदि हृदय में व्यथा और आँखों में आँसू लिये उदास और निराश भाव से बैठे हुए थे। सेनापति ने रुद्ध कंठ से कहा, "मैं सुनंदा की प्रत्येक इच्छा पूर्ण करता रहा। मुझे इस बात का बहुत ही दुःख है कि मैं सुनंदा की अन्तिम अभिलाषा को पूर्ण करने में असमर्थ रहा हूँ। सामंत शीलभद्र के दर्शन की अन्तिम अभिलाषा हृदय में लिये ही सुनंदा हमें छोड़ कर जा रही है।" यह कहते हुए सेनापति रो पड़े और और अपने आँसू पोंछने लगे।

सुशीला ने साड़ी के आँचल से अपने आँसू पोंछते हुए कहा, "भैया तो चार महीने तक लौट आने की बात कह गये थे।

आज तो पूरे चार महीने और तेरह दिन हो गये हैं। ईश्वर की मर्जी !"

"दीदी के बिना मेरा जी नहीं लगेगा, माँ !" माता की ओर देख कर यह कहते हुए सुधा रो पड़ी। माता ने उसको आलिंगन में लेकर रोते हुए ही कहा, "सुधा, रोओ नहीं, बेटी ! सुनंदा हमारे घर की शोभा थी. चहल-पहल थी। उसी के कारण घर हरा-भरा और भरा-पूरा लगता था। उसके बिना घर सूना-सूना हो जायेगा।"

फिर सब मौन होकर सुनंदा की ओर वेदना-भरे नेत्रों से देखते रहे। कुछ देर के पश्चात् सुनंदा ने नेत्र खोले और क्षीण स्वर में कहा, "मुझे गुरुदेव की समाधि के पास ले चलिये।"

प्रतिदिन की तरह सेनापति ने एक हाथ सुनंदा की गर्दन के नीचे और दूसरा हाथ घुटनों के नीचे देकर उसको उठाया और समाधि के पास जमीन पर बिछी हुई शय्या पर तकिए के सहारे उसको अधलेटी सी बिठा दिया। सुधा ने सदा की तरह वाटिका से सुन्दर तथा सुगन्धित पुष्प लाकर सुनंदा के पास रख दिये। सुनंदा ने पुष्पों को हाथ में लेकर माता से कहा, "माँ, मुझे इनकी मा बना दो।"

सुनंदा की माता और सुशीला दोनों शीघ्रतापूर्वक दो मालाएं पिरोने लगीं। कुछ देर के पश्चात् सुनंदा सुधा के सिर पर हाथ फेरते हुए बोली, "सुधा, मेरी अच्छी बहन, मुझे मीरा का भजन सुनाओ, जो मैंने तुमको सिखाया था।" इतना कह कर सुनंदा ने आँखें बंद कर लीं।

सुधा बेचारी क्या करे ? वह अत्यधिक दुःखी थी। उसके गले में रुलाई उमड़ रही थी। गाने की अवस्था में वह बिल्कुल नहीं थी, परन्तु अपनी प्यारी दीदी की अंतिम आज्ञा को वह

कैसे टालती ? संगीत-शाला से एकतारा और करताल लाकर वह सुनंदा के सामने बैठ गई और भरे गले से गाने लगी—

मैं जाग्यो नाहीं प्रभु को मिलण कैसे होय री ।
आये मेरे सजना फिर गये अंगना मैं अभागण रही सोय री ॥
निसवासर मोहि विरह सतावै कल न परत पल मोय री ।
मीरा के प्रभु हरि अविनाशी मिल बिछुड़ो मत कोय री ॥

भजन समाप्त कर सुधा अपनी आँखें पोंछने लगी । सुधा के भजन ने सभी को रुला दिया । माला सुनंदा के पास रख कर सुशीला किसी काम से उठ खड़ी हुई । सहज भाव से उसकी दृष्टि उस मार्ग पर गई, जिससे शीलभद्र गया था । उसको उस मार्ग से एक घुड़सवार तेज गति से आता दिखाई दिया, पर दूर होने से वह उस घुड़सवार को पहचान न सकी । थोड़ी देर तक एकटक देखती रहने के बाद उसने उस घुड़सवार को पहिचान लिया और उस शोक के समय में भी वह हर्षातिरेक में एकदम जोर से चिल्ला उठी, "भैया आ गये ।"

"भैया आ गये ।" यह सुनते ही सुनंदा ने नेत्र खोले और क्षीण परंतु प्रसन्न स्वर में पूछा, "क्या, वह आ गये ?"

"हाँ, भैया आ गये ।" सुशीला ने हर्षभरित स्वर में कहा और वह कला-मंदिर के प्रांगण के द्वार की ओर बढ़ी । सुनंदा के मुख पर मृत्यु की छाया पड़ रही थी, पर उस अवस्था में भी उसकी प्रसन्नता का ओर-छोर न रहा और उसके मुख पर मंद मुस्कराहट दौड़ गई । सुधा, उसकी माता, सेनापति आदि सब उठ कर द्वार की ओर अधीरतापूर्वक देखने लगे ।

सुशीला द्वार के पास खड़ी हो गई । उसके मुख पर फीकी मुस्कराहट थी और आँखों से आँसू बह रहे थे । शीघ्र ही घुड़सवार शीलभद्र द्वार पर पहुँच गया । सुशीला हर्ष-शोक-मिश्रित

स्वर में बोली, "भैया, तुमने आने में बड़ी देर करदी।"

घोड़े से उतर कर शीलभद्र ने सुशीला के पैर छुए और अनिष्ट की आशंका से व्यग्रतापूर्वक पूछा, "सब कुशल-मंगल है न?"

सुशीला ने अपनी आँखें पोंछते हुए कहा, "भैया, सुनंदा की उपेक्षा कर तुम चले गये, यह तुमने अच्छा नहीं किया। यदि आज न आते, तो तुम सुनंदा को देख नहीं पाते। वह हमें छोड़ कर जा रही है। यह भी भाग्य की बात है कि तुम्हारे दर्शन की उसकी अंतिम अभिलाषा पूरी हो रही है। आओ।"

शीलभद्र पर मानों वज्रपात-सा हुआ। दुःखी शीलभद्र अपराधी की तरह सुशीला के साथ समाधि की ओर बढ़ा। सेनापति ने आगे बढ़ कर शीलभद्र को अभिवादन कर गले से लगाया और रुद्ध कंठ से कहा, "दुःखी पिता की करुण पुकार ईश्वर ने सुन ली। आपके आ जाने से सुनंदा की अंतिम इच्छा पूरी हो गई। जाइये, पहले सुनंदा से मिलिए। वह हम से बिदा होने के लिये तैयार होकर बैठी है।" यह कह कर सेनापति रो पड़े।

शीलभद्र व्यथित हृदय से सुनंदा के पास जाकर बैठ गया। और सजल नेत्र से उसकी ओर देखने लगा। उस समय मृत्यु की दारुण यंत्रणा को भूल कर सुनंदा शीलभद्र को देख कर मुस्कराई। उसकी बोलने की शक्ति नष्ट होती जा रही थी। वह कठिनाई से बोली, "आ गये तुम? अब मेरी आशा-अभिलाषा पूरी हो गई। ईश्वर की दया!"

क्षीणकाया सुनंदा को मृत्यु की गोद में देख कर शीलभद्र का हृदय भर आया, बोला, "सुनंदा, मुझे अपने किये पर दुःख है, पश्चाताप है। मैं तुम्हारा अपराधी हूँ। मुझे क्षमा कर दो।"

"ऐसा न कहो। क्षमा तो मैं ही तुमसे माँगती हूँ।" यह कह

कर सुनंदा ने अपनी उंगली से मुद्रिका निकाली और कहा, "अपना हाथ इधर करो।"

शीलभद्र ने अपना हाथ सुनंदा के सामने किया। सुनंदा ने शीलभद्र की उंगली में अपनी मुद्रिका पहिना दी और फिर पुष्पमाला ले कर कहा, "अपना सिर जरा आगे करो।"

शीलभद्र ने एक विनीत आज्ञाधारक की तरह अपना सिर सुनंदा के सामने किया। सुनंदा ने पुष्पमाला शीलभद्र के गले में डाल दी।

सुशीला ने रोते हुए कहा, "भैया, तुम अपनी मुद्रिका सुनंदा देवी की उंगली में और यह पुष्पमाला गले में पहिना दो। सुनंदा देवी की अंतिम अभिलाषा पूरी करने में कोरकसर न रखो।"

मृत्यु-मंगल का वह मर्मस्पर्शी दृश्य देख कर सुनंदा की माता, सुधा, सेनापति आदि सब सिसक-सिसक कर रो रहे थे। मृत्यु-मण्डप में अंतिम सांसों की वेदी पर हो रहे उस गांधर्व-विवाहोत्सव पर एक दुलहन के सिवा सभी मातम मना रहे थे।

शीलभद्र ने अपनी मुद्रिका सुनंदा की उंगली में और पुष्पमाला उसके गले में पहिना दी। सुनंदा को मानों मुँह मांगी मुराद मिल गई, पर प्रसन्नता प्रकट करने की अवस्था में वह नहीं थी। उसका गला सूख गया था। उसने विपण्ण स्वर में कहा, "मुझे थोड़ा पानी दो।"

शीलभद्र ने अपना बांय हाथ सुनंदा की गर्दन के नीचे देकर उसको उठाया और दाहिने हाथ से पानी का प्याला उसके मुँह को लगाया। सुनंदा ने दोनों हाथों से प्याला पकड़ कर थोड़ा पानी पिया और एकटक शीलभद्र के मुख की ओर वह निहारने लगी, "जीवन मेरी जिस अभिलाषा को पूर्ण न कर सका, उस अभिलाषा को मृत्यु ने पूर्ण कर दिया। जीवन ने ...

अच्छी है, शीलभद्र !" इतना कह कर उसने आँखें बंद कर लीं। शीलभद्र ने उसे लिटा दिया। थोड़ी देर के बाद उसने आँखें खोलीं और व्यथित स्वर में कराहते हुए कहा, "मेरा जी घबरा रहा है, आह !"

शीलभद्र का हृदय हाहाकार कर उठा। सुशीला ने राजवैद्य की दी हुई दवा सुनंदा को पिलाने का प्रयत्न किया, पर दवा मुँह से बाहर निकल आई, हलक के नीचे उतर न सकी। सुनंदा ने आँखें घुमा-फिरा कर सामने सब की ओर देखा और फिर शीलभद्र की ओर देख कर अस्फुट कंपित विषण्ण स्वर में कहा, "वि——दा !" इतना कहते ही सुनंदा की आँखें एकदम पथरा गईं और हिचकियाँ शुरू हो गईं——एक-दो-तीन-और बस, सुनंदा चल बसी।

उस समय सूर्यास्त हो रहा था। कला-मंदिर का सन्ध्याकालीन वातावरण रुदन से व्याप्त हो गया। शोकावेग को दबाकर अत्यधिक गंभीर बना हुआ शीलभद्र देर तक शून्य दृष्टि से सुनंदा के निष्प्राण शरीर को देखता रहा और फिर बेबस हो अपना दाहिना हाथ सिर पर मार कर रोते हुए बोला, "हाय रे विधि-विधान !"

उपसंहार

आचार्य की समाधि के निकट ही सुनंदा की दाह-क्रिया की गई और उसी स्थान पर उस की एक छोटी सी कलापूर्ण स्फटिक-समाधि बनाई गई।

युवराज का एक सुन्दर राजकन्या से विवाह हो गया। विवाह के बाद युवराज एक पत्नी-व्रत का कट्टर समर्थक हो गया।

आचार्य महानंद ने अपनी धर्मपत्नी देवी महानंदा के देहान्त के बाद अपनी कलासंस्था कला-मंदिर को बंद कर दिया था, परन्तु उनके पट्ट-शिष्य शीलभद्र ने अपनी धर्मपत्नी सुनंदा की मृत्यु के पश्चात् उस कला-मंदिर को फिर संस्था का रूप प्रदान कर एक महान् कला-केन्द्र बनाया।

आचार्य की निवृत्ति में और शिष्य की निवृत्तिमय प्रवृत्ति में मौलिक अंतर प्रतीत होता है, परन्तु दार्शनिक दृष्टि से दोनों वृत्तियाँ एक ही हैं, दो नहीं।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।

उपसंहार

आचार्य की समाधि के निकट ही सुनंदा की दाह-क्रिया की गई और उसी स्थान पर उस की एक छोटी सी कलापूर्ण स्फटिक-समाधि बनाई गई।

युवराज का एक सुन्दर राजकन्या से विवाह हो गया। विवाह के बाद युवराज एक पत्नी-व्रत का कट्टर समर्थक हो गया।

आचार्य महानंद ने अपनी धर्मपत्नी देवी महानंदा के देहान्त के बाद अपनी कलासंस्था कला-मंदिर को बंद कर दिया था, परन्तु उनके पट्ट-शिष्य शीलभद्र ने अपनी धर्मपत्नी सुनंदा की मृत्यु के पश्चात् उस कला-मंदिर को फिर संस्था का रूप प्रदान कर एक महान् कला-केन्द्र बनाया।

आचार्य की निवृत्ति में और शिष्य की निवृत्तिमय प्रवृत्ति में मौलिक अंतर प्रतीत होता है, परन्तु दार्शनिक दृष्टि से दोनों वृत्तियाँ एक ही हैं, दो नहीं।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।